कृष्णदास संस्कृत सीरीज

६

॥ श्रीः ॥

त्रिपुरारहस्य का तंत्रविश्लेषण

(स्व-साक्षात्कार-पद्धतिः)

(प्राचीन भारतीय तंत्रसाधना एवं आधुनिक युंगीय मनोविश्लेषण शास्त्र का तुलनात्मक विवेचन)

अनुवादक

श्री भवानीशङ्कर उपाध्याय

चौखम्बा सरस्वतीभवन

वाराणसी-२२१००१

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
६
**

॥ श्रीः ॥

त्रिपुरारहस्य का तंत्रविश्लेषण

(स्व-साक्षात्कार-पद्धतिः)

(प्राचीन भारतीय तंत्रसाधना एवं आधुनिक युंगीय मनोविश्लेषण शास्त्र का तुलनात्मक विवेचन)

व्याख्याकार—
डॉ० अरविन्द यू वसावड़ा

अनुवादक—
भवानीशङ्कर उपाध्याय

चौखम्बा सरस्वतीभवन, वाराणसी
१९८१

प्रकाशक : चौखम्बा सरस्वतीभवन, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३७
मूल्य Rs. 24 : Rs.

Oriental Publishers & Book-Sellers
K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi-221001
(INDIA)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७,९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

अनुक्रम

निवेदन

रविवार दिनांक 28 सितम्बर 1975 को सबेरे तरलई-माता (त्रिपुरा सुन्दरी) की प्राचीन मूर्ति के सम्मुख उपस्थित होने का मुझे अवसर मिला। मूर्ति के सामने जब मैंने मातृवंदना के श्लोकोंको याद करने का प्रयत्न किया तो सभी स्मृतियाँ विलुप्त हो गयीं, रोमाञ्च और पसीना आ गया और केवल 'माँ माँ माँ' का महामन्त्र ही सम्पूर्ण मस्तिष्क पर छा गया। शब्द 'माँ' आद्यस्तुति है, अनौपचारिक, आडम्बर-हीन। बालक को केवल 'माँ' का ही स्मरण रहना चाहिए, स्तुतिपाठ, श्लोकोपचार की औपचारिकता से ऊपर उठने का मानों माँ का संकेत था।

दिन भर सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहा, फिर भी निरन्तर मूर्ति के सम्मुख हुए अनुभव के विषय का चिन्तन बना रहा, फलतः दो दिन बाद पुनः दर्शनार्थ मन्दिर में उपस्थित हुआ, इस बार प्रथम दिन की तन्मयता का अभाव रहा, किन्तु तीसरी बार जब मैंने इस प्राचीन मूर्ति को ध्यान से देखा तो मुझे मूति काली में एक ओर से लक्ष्मी तथा दूसरी ओर से सरस्वती के दर्शन हुए और मूर्ति काली में मेरी स्वर्गीया माता के स्वरूप के तादात्म्य का अनुभव हुआ।

यह तरलई-माता–त्रिपुरा सुन्दरी क्या है, इसका क्या रहस्य है, इसके विषय में क्या पढ़ूँ, किससे पूछूँ, क्या समझूँ आदि अनेक तर्क-वितर्क मन में उठते रहे और इस विषय की जिज्ञासा बराबर मन में बनी रही, कि यकायक दिनांक 5 अक्टूबर 75 को मेरे एक मित्र ने मेरे पुस्तकालय से एक कानूनी पुस्तक की माँग की, जिसकी तलाश में मैंने जब अपनी पुस्तकों की अलमारी

टटोली तो कानूनी किताब के बदले मेरे निकटस्थ मित्र डॉक्टर अरविंद वसावड़ा द्वारा दस वर्ष पूर्व प्रदत्त उनकी अंग्रेजी पुस्तक "त्रिपुरा रहस्य" की प्रति हाथ लगी, जिसको मैंने उस समय पढ़े बिना ही अलमारी में सजा रखी थी। डॉक्टर वसावड़ा ने इस पुस्तक को विश्व विख्यात डॉक्टर सी. एफ युंग इनस्टीट्यूट ज्युरिच स्विटजरलैण्ड में बीस महीने रह कर अपने शोध ग्रन्थ की तरह लिखा था। जिज्ञासा के फलस्वरूप पुस्तक के अध्ययन में मेरा मन रम गया और इसका अनुवाद करने का विचार उदय हुआ। पुस्तक का अनुवाद कार्य 13 अक्टूबर 75 को प्रारंभ किया गया और दिनांक 2 फरवरी 77 को यह कार्य समाप्त हुआ। समग्र अनुवाद का योग्य संशोधन मूल व्याख्याकार डॉक्टर वसावड़ा के निर्देशानुसार किया गया है।

डॉक्टर अरविन्द वसावड़ा का यह शोध ग्रन्थ उनके स्वर्गीय गुरु भाऊ साहब द्वारा प्रदत्त त्रिपुरा रहस्य (दत्त भार्गव संवाद) ग्रन्थ की बी. बी. जोशी कृत मराठी अनुवाद पर आधारित है। यह पुस्तक डाक्टर वसावड़ा के लिए गुरु-प्रसाद था, और इस शोध ग्रन्थ पर पाश्चात्य मनीषी डॉ० सी. एफ. युंग द्वारा विवेचन परामर्श उपलब्ध होने के फलस्वरूप निःसन्देह इसका विशेष महत्व है। पिछले चालीस वर्षों से मेरा श्री वसावड़ा परिवार से घनिष्ठतम संबंध रहा है, अतः मेरा यह अनुवाद हमारी पुरातन मैत्री की एक कड़ी मात्र है।

प्रस्तुत प्रकाशन डॉक्टर वसावड़ा प्रणीत 'त्रिपुरा रहस्य' शीर्षक अंग्रेजी शोध ग्रन्थ का भावानुवाद है, जिसका प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अन्तर्गत सन् 1965 में हो चुका है। इसके पश्चात् सन् 1967 में इसी प्रकाशन संस्थान से स्वामी श्री सनातनदेव जी महाराज द्वारा त्रिपुरारहस्य के ज्ञानखंड का हिन्दी टीका मूल संस्कृत के साथ प्रकाशित हो चुकी है, अतः मैंने इस प्रकाशन में जानबूझकर ज्ञानखण्ड का हिन्दी अनुवाद संलग्न नहीं किया है।

भारतीय तन्त्र शास्त्र के अप्रतिम विद्वान पूज्य स्वामी श्री विद्यारण्यजी महाराज (स्वामी मूर्खानन्दजी महाराज) ने मेरे द्वारा प्रणीत पांडु-

लिपि का अवलोकन कर अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान कर मेरा जो उत्साह वर्द्धन किया है उसके लिए मैं परमपूज्य स्वामीजी का बड़ा आभारी हूँ। उनकी सम्मति 'आशीर्वचन' की तरह इस प्रकाशन में संलग्न की गयी है। चौखम्बा सरस्वतीभवन के संचालक जी का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने न केवल सहृदयतापूर्वक डॉक्टर बसावड़ा के ग्रन्थ के अनुवाद को प्रकाशन के लिए अनुज्ञा प्रदान की, अपितु, नवोदित चौखम्बा सरस्वतीभवन में इसको छापने तथा तत्सम्बन्धी सभी कार्यों के सम्पादन करने का दायित्व निभाया।

माँ त्रिपुरा, गुरुश्रेष्ठ स्वर्गीय भाऊ साहिब तथा मातृवत्सला स्वर्गीया लीलू भाभी वसावड़ा (जिनकी आज बारहवीं पुण्यतिथि है) मेरे इस विनम्र प्रयास को स्नेहमय दृष्टि से स्वीकार करेगें, इस विश्वास के साथ,

12 पञ्चवटी, उदयपुर

दिनांक 26 नवम्बर 1980

--भवानीशङ्कर उपाध्याय

प्राक्कथन

प्रोफेसर डॉक्टर सी. ए. मायर्स

प्राध्यापक, मनोविज्ञान विभाग, ई. टी. एच.

एवं

मनोविश्लेषक स्पेशलिष्ट, ज्यूरिच (स्विटज़रलैण्ड)

मेरे मित्र श्री वसावड़ा की इस प्रबुद्ध पुस्तक का प्राक्कथन लिखते हुये मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है, जिसके कारण निम्नानुसार हैं:—

1. प्रस्तुत पुस्तक, अनेक विशेषताओं के बावजूद लेखक के दीर्घकालीन अध्ययन-परिश्रम का यशस्वी फल है, जो उन्होंने ज्यूरिच (स्विटजरलैण्ड) में मेरे सीधे मार्ग-दर्शन में रहकर योग्य प्रकार से सम्पादन किया जिसका मुझे प्रत्यक्षदर्शी होने का अनुभव है। डॉक्टर वसावड़ा की अचल निष्ठा का मैं सदैव प्रशंसक रहा हूँ। उन्होंने पूर्व तथा पाश्चात्य की परस्पर विरोधी संस्कृतियों को पास लाने का जो भगीरथ कार्य किया है उसके लिये वे बधाई के पात्र हैं, जबकि मैं इस प्रश्न पर कई बार भ्रम में पड़ गया हूँ। मुझे प्रसन्नता है कि इस कार्य में हमें पर्याप्त सफलता मिली है, और इसलिये मैं प्रभु का आभारी हूँ कि उसने हम दोनों को सहयोगी बना कर साथ काम करने का अवसर दिया।

2. पूर्वीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओं के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का कार्य युंगीय मनोविश्लेषण शास्त्र द्वारा प्रतिपादित 'बहिर्मुखी' तथा 'अन्तर्मुखी' अभिवृत्ति की अवधारणा के फलस्वरूप अपेक्षाकृत सरल हो गया है। यह निर्विवाद है कि पश्चिम में प्रधानतः बहिर्मुखी अभिवृत्ति पायी जाती है तथा पूर्व की विशेषता भारतीय दर्शन की गहराई तथा योगसाधना के महत्व के कारण 'अन्तर्मुखी' अभिवृत्ति है,

किन्तु आत्मा की इकाई की मान्यता के प्रकाश में युंग को जन्मना अन्तर्मुखी स्वीकार करते हुए युंगीय उपागम को पूर्वीय विशिष्टकरण प्रक्रम (व्यक्तित्व-विकास) के सन्निकट माना जाना चाहिये।

3. विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के घटनाक्रमों के अध्ययन से युंगीय तथा भारतीय पद्धति में उल्लेखनीय समानता दृष्टिगोचर होती है, तथा युंगीय अनुसन्धान के कतिपय निष्कर्षों की व्याख्या केवल भारतीय ढंग से ही स्पष्ट की जा सकती है, जिनको युंग ने भी भारतीय शब्दावली 'आत्मा' तथा 'मंडल' आदि के माध्यम से ही समझाने का प्रयत्न किया है। निःसन्देह युंग का दृष्टिकोण सदैव अनुभवजन्य, प्रयोगात्मक तथा मनोवैज्ञानिक रहा है, अतः युंग ने अपने निष्कर्षों की कभी अधिमानसिकी (अथवा तत्वमीमांसीय) व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की। सन् 1930 में युंग ने सर्व प्रथम एक अन्तरंग गोष्ठी में एक यूरोपियन रोगी (जिसका पूर्वीय विचारधारा अथवा परम्परा से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा था) द्वारा चित्रांकन में प्रदर्शित भारतीय कुंडलिनी तथा चक्रों की ओर पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया, और इस रोगी द्वारा प्रस्तुत चित्रों की कुंडली चक्रों के साथ समानता प्रमाणित की। तथा बाद में जाकर यह प्रतिपादन किया कि औसत पाश्चात्य चेतन में भी विशुद्ध भारतीय तंत्र पद्धति में उल्लिखित 'विशुद्धचक्र[1]' आज्ञाचक्र[2] तथा सहस्रारचक्र[3] की समानता पायी

---

1. विशुद्धचक्र : यह मेरुदण्ड के भीतर ब्रह्मनाड़ी में पिरोया हुआ कमल के आकार का चक्र है। इसकी स्थिति कण्ठ प्रदेश में हैं। इसका कमल धूम्रवर्णवाले 16 दलों का है। इन दलों पर 'अ' से अः तक सोलह स्वरों की स्थिति है। चक्र पूर्ण चन्द्राकार है। यह तंत्र शून्य अथवा आकाश तत्व का द्योतक है। यंत्र के देवता 'सदाशिव' माने जाते हैं।
2. आज्ञाचक्र : यह चक्र भ्रूमध्य के सामने मेरुदण्ड के भीतर ब्रह्मनाड़ी में स्थित है, इसका कमल श्वेत वर्ण के दो दल वाला है, इन दलों पर 'ह' 'क्ष' अक्षरों की स्थिति मानी गई है। यह तन्त्र महत् तत्व का द्योतक है।
3. सहस्रारचक्र : सभी षट् चक्रों के ऊपर मेरुदण्ड के उपरी सिरे पर (खोपड़ी में स्थित) सहस्रदल वाला सहस्रारचक्र है। यहाँ परम शिव विराजमान रहते हैं। इसके हजार दलों पर बीस बीस बार प्रत्येक स्वर व्यञ्जन स्थित माने गये हैं।

—साभार कल्याण शक्ति अंक
अगस्त 1934 पृष्ठ 452 से उद्धृत।

जा सकती है—जबकि सामान्यतः पाश्चात्य मन के लिये कुंडली चक्रों की स्थिति को सर्वथा अकल्पनीय, असंभव तथा महत्वहीन ही माना जायगा।

4. युंग की उत्तरकालीन रचनाओं में संश्लिष्ट विरोधाभास का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, अर्थात् प्रत्येक तथ्य, घटना, क्रिया के साथ ही साथ उसकी विपरीत स्थिति भी पायी जाती है। युंग की इस अवधारणा के प्रकाश में यूरोपियन जन-मानस भारतीय 'मंडलों' को समझ सकता है, जिसको विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में 'रहस्य-मयी सह स्थिति' संज्ञा से स्पष्ट किया गया है। युंग के विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान का अन्तिम प्रयोजन अहम् (Ego) को आत्मा (Soul) के अधीन स्थित करना है क्योंकि आत्मा में अहम् तथा उसकी विपरीत स्थिति दोनों की 'रहस्यमयी सह स्थिति' को स्वीकार किये जाने का युंगीय-साहित्य में संकेत मिलता है। अतः आत्मा की इकाई के प्रकाश में पाश्चात्य बहिर्मुखी वृत्ति तथा भारतीय अन्तर्मुखी अभिवृत्ति दोनों का समावेश माना जाना चाहिये, और इन दोनों अभिवृत्तियों के सामाञ्जस्य से ही 'व्यक्तिकरण' (व्यक्ति विकास) की स्थिति तक पहुँचा जा सकता है। विशिष्ट-करण के इस लक्ष्य की पूर्ति के प्रयत्न के फलस्वरूप पाश्चात्य तथा पूर्वीय (भारतीय) मन का अलगाव शनैः शनैः कम हो कर न केवल पाश्चात्य बहिर्मुखी वृत्ति तथा पूर्वी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों के बीच तालमेल एवं सम्यक् सामञ्जस्य स्थापित होगा, अपितु एक दूसरे की सम्यक् समझ के परिणाम स्वरूप यथार्थ (Real) और आदर्श (Ideal) का अन्तर भी कम होगा तथा पाश्चात्य एवं पूर्वीय विचारधारा के बीच जो आपसी खींचातानी तथा मतभेद है, उसमें भी परस्पर समझ के फलस्वरूप सहिष्णुता और साहचर्य-भावना का विकास होगा। (निसन्देह पाश्चात्य जनमानस बाह्य जगत में सारहीन भटक रहा है और पूर्वीय भारतीय प्रतिभा प्रायः अन्दर ही उलझ कर क्रिया-हीन होती जा रही है अतः सम्पूर्ण व्यक्ति तथा समष्टि के विकास एवं कल्याण के लिये इन परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच आपसी समझ तथा सामञ्जस्य बनाये रखने की दृष्टि से बहिर्मुखी पश्चिम तथा अन्तर्मुखी भारत को 'जातिवाद' से उबारना होगा, क्योंकि आज विश्व की विषम एवं संघर्षमयी स्थिति में पाश्चात्य तथा पूर्व को एक दूसरे की विशेषताओं को गहराई से समझने तथा परस्पर सामञ्जस्य भावना की

स्थापना करते हुए आपसी विश्वास को बढ़ाने की सर्वोपरि आवश्यकता है[1]। मेरी सम्मति में विद्वान लेखक ने इस महान उत्तरदायित्व का बड़े प्रभावशाली ढंग से निर्वाह किया है. अतः इस सम्बन्ध में हम पश्चिम निवासी डॉक्टर वसावड़ा की विनम्रता तथा धार्मिक भावना के लिये आभारी हैं।

5. इसके अलावा श्री वसावड़ा 'त्रिपुरा-रहस्य' ग्रन्थ के चुनाव के लिये तथा इस ग्रन्थ का सरल, सुस्पष्ट तथा बोधगम्य अनुवाद प्रस्तुत करने के लिये सर्वोपरि बधाई के पात्र हैं। 'त्रिपुरा-रहस्य' अर्थात् 'दत्तात्रेय-परशुराम संवाद' पाश्चात्य विचार-परम्परा के चिंतकों के लिये विशेषतः उपयोगी है, क्योंकि परशुराम की शंकाओं के माध्यम से पाश्चात्य चिंतक की बहिर्मुखी वृत्ति का तथा गुरु दत्तात्रेय की व्याख्या के द्वारा भारतीय अन्तर्मुखी अभिवृत्ति का सामञ्जस्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत होता है, जिसके परिणामस्वरूप पाठक के लिये यह ग्रन्थ रुचिकर एवं उपयोगी सिद्ध होगा।

---

1. अनुवादक की व्याख्या है।

प्रस्तावना

युंगीय तथा भारतीय विचारधाराओं का मिलान करते हुये व्यक्तित्व विकास के प्रक्रम की विवेचना प्रस्तुत करना कठिन कार्य है, यह मैं अनुभव करता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि मानो एक चूहा पर्वत की चोटी पर पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है।

मैं भारतीय हूँ, जन्मना ब्राह्मण हूँ और सौभाग्य से मुझे गुरु का सानिध्य भी मिला है, किन्तु फिर भी गुरु-ज्ञान की गम्भीरता से मेरा अल्प परिचय है। युंग की ज्यूरिच स्थित इन्स्टीट्यूट में मुझे 20 महीने रहने का अवसर मिला था फिर भी मेरे लिये युंगीय परम्परा का समझना कठिन रहा है, इस गहन ज्ञान को समझने तथा आत्मसात् करने के लिये अध्ययन तथा अनुभव की अपेक्षा है।

फिर भी मनुष्य को निर्धारित कार्य करना ही पड़ता है अतः मैं अपनी सीमायें जानते हुये भी इस प्रदत्त कार्य का सम्पादन करने के लिये विनम्रतापूर्वक प्रयत्न करूंगा।

किसी भी विशिष्ट पद्धति का ज्ञान पुस्तकों से नहीं हो सकता क्योंकि वह मात्र रूप-रेखायें प्रस्तुत करती हैं। पद्धति को केवल गुरु माध्यम से ही आत्मसात् किया जाता है, गुरु और शिष्य के बीच जो भाव-प्रवाह होता है, उसका आलेखन शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता। शिष्य, गुरु के सानिध्य में रहता है और वहाँ वह गुरु के सम्पूर्ण वातावरण को जीवन तथा भावना के द्वारा आत्मसात करता है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुये मैंने युंगीय तथा भारतीय पद्धतियों की विवेचना प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जो प्रायः पुस्तकों में उपलब्ध नहीं है।

इस अध्ययन के दौरान मैंने जो कुछ लिखा है, वह गलत भी हो सकता है, किन्तु निःसन्देह मैंने इन पद्धतियों को समझने का इमानदारी के साथ प्रयत्न किया है, और इसलिये इनका स्वतः महत्व है। इस प्रकार के प्रसंगों में किसी की आलोचना नहीं की जाती अपितु चर्चा-वार्तालाप तथा संवाद के माध्यम से विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक में भी इसी प्रणाली को अपनाने का विनम्र प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक के अनुवाद के लिए मैं श्रीमती लुईस मेहड़ी का आभारी हूँ, यह अनुवाद ग्रन्थ युंग के इन्स्टीट्यूट में डिप्लोमा प्राप्ति हेतु शोध ग्रन्थ की तरह स्वीकृत हुआ। श्रीमती लुईस संयुक्त राज्य अमेरिका से अन्य शोध-कर्त्ताओं की तरह अपनी समस्याओं के समाधान के लिए युंग इन्स्टीट्यूट में आयी थीं, उनकी विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान तथा भारतीय दर्शन में गहरी अभिरुचि थी, अतः हमारी मैत्री में विकास हुआ। उन्होंने यह इच्छा जाहिर की कि भारतीय गहन-ज्ञान-मंडित किसी पुस्तक का

गहराई से अत्ययन किया जाय, तथा प्रयोगात्मक ढंग से उसको समझने का प्रयत्न किया जाय। उस समय तत्काल "त्रिपुरा रहस्य" का ध्यान आ गया। यह पुस्तक मुझे मेरे स्वर्गीय गुरु श्री केशरचन्द्र जी कलयंत्री मेगुर निवासी ने अध्ययन हेतु प्रदान की थी। यह पुस्तक मेरे गुरु की पवित्र यादगार की तरह मेरे साथ थी।

मैंने श्रीमती लुईसो के लिए इस पुस्तक का अनुवाद शुरू कर दिया और प्रत्येक अध्याय को उसने व्यवस्थित ढंग से साज सँवार कर पठनीय स्वरूप दिया। बाद में इस कार्य में मेरी मित्र कुमारी मार्गरेट लेंडेरेट तथा कुमारी ब्रेनी ब्रा ने भी सहयोग दिया।

सम्पूर्ण पुस्तक के अनुवाद के पश्चात् मैंने अपने शोध प्रबन्ध ग्रन्थ के लिए युंगीय तथा भारतीय पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया। इस हेतु मैंने डॉक्टर मेअर्स (मेरे मनोविश्लेषक, मार्गदर्शक तथा मित्र) के आधीन अनुसन्धान कार्य किया। कार्य के द्वारा हमारी घनिष्ठता बढ़ी और हमारे बीच अटूट सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस पुस्तक के मुख्य भाग का डॉक्टर युंग ने अवलोकन किया है, और तत्सम्बन्धी उपयोगी समालोचना एवं मार्ग-दर्शन प्रदान कर मुझे संकट से उबारा है, अतः मैं इस गुरु कृपा की वर्षा के लिए सदैव आभारी हूँ। अन्त में भारत लौटने के पूर्व मुझे अन्तिम बार दो घण्टे उनके चरणों में बैठने का उनकी कृपा से बोलीनगन में अवसर मिला, जिसके फलस्वरूप मैं युंगीय परम्परा को अधिक गहराई से समझ सका तथा उन्हें भी भारत की जीवित अखण्ड गुरु-परम्परा का कुछ आभास दे सका।

इस पुस्तक के प्रणयन के दौरान मैं अपने मित्र लुईसी, मारगरेट तथा ब्रेनी के बहुमूल्य सहयोग एवं प्रोत्साहन के लिए ऋणी हूँ, जिसके प्रेरणायुक्त सहयोग के अभाव में इस पुस्तक को पूर्ण किया जाना कठिन था, क्योंकि युंगीय मनोविश्लेषण के दौरान मुझे गंभीर मानसिक द्वन्द्वों एवं हलचलों के बीच गुजरने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

अन्त में मैं बोलीनगन प्रतिष्ठान के स्नेहपूर्ण सहयोग के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिसके सौजन्यपूर्ण व्यवहार के कारण मेरा कार्य सरलता एवं आराम से निपट सका।

चौखम्बा सरस्वती भवन के व्यवस्थापक महोदय के उपकार को भी मैं नहीं भूल सकता जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशन करने का दायित्व निभाया और मेरे मित्र डॉक्टर रामकुमार राय ने प्रकाशन के दौरान पुस्तक की पांडुलिपि तथा प्रकाशन सम्बन्धी त्रुटियों को सुधारा।

ज्यूरिच स्थित मेरे अध्ययन काल के दौरान मेरी पत्नी को विषम परिस्थितियों में अकेले रह कर जो कष्ट उठाना पड़ा है, इसके लिये मैं मौन प्रार्थना करता हूँ। मेरे पुत्र राजेन्द्र ने इस पुस्तक की अनुक्रमणिका तैयार करने में जो श्रम किया है, उसका उल्लेख किया जाना पर्याप्त है।

—अरविन्द. यू. वसावड़ा

त्रिपुरा-रहस्य : स्वसाक्षात्कार पद्धति

शाक्तसंप्रदाय का ऐतिहासिक विवेचन

हिन्दूदर्शन का ऐतिहासिक क्रम निर्धारण करना कठिन है। हिन्दू परम्परा तथा प्रायः पूर्वीय विचारधारा में सत्य को ही सर्वोपरि महत्व दिया गया है, और इस तथ्य की ओर प्रायः उपेक्षा बर्ती गई है कि यह सत्य किस ऋषि को तथा किस काल में उद्‌घाटित हुआ। ऋषि अनुभव को ही शाश्वत सत्य माना गया है, अतः भारतीय विद्वान के लिये हिन्दू विचार परम्परा का काल-क्रम निर्धारण करना कठिन समझा गया है।

शाक्तसंप्रदाय में कालक्रम निश्चयन और भी अधिक कठिन है, क्योंकि इस संप्रदाय में ज्ञान को गोपनीय रखे जाने का आग्रह पाया जाता है, तथा जनसाधारण को इस ओर प्रायः विमुख रखे जाने का प्रयास किया गया है। अतः इस दिशा में बहुत कम अनुसन्धान कार्य हो सका है तथा बहुत अल्प साहित्य प्रकाश में आ रहा है। फिर भी अनेक उल्लेखों से यह प्रगट होता है कि शाक्त साहित्य अत्यन्त विस्तृत है, तथा इस साहित्य को वैदिक साहित्य के समकक्ष महत्व दिया गया है। शाक्त साहित्य भी वैदिक साहित्य की तरह संहिता, उपनिषद् तथा सूत्र रूप में उपलब्ध है।

"त्रिपुरा रहस्य" संहिता साहित्य है। यह ग्रन्थ प्रथम गुरु भगवान दत्तात्रेय द्वारा रचित ग्रन्थ 'दत्ता' अथवा 'दक्षिण मूर्ति' का संक्षिप्त संस्करण है। कहा जाता है कि मूल ग्रन्थ 18 000 श्लोक में लिखा गया था, जिसको श्री दत्तात्रेय के शिष्य श्री परशुराम ने 600 श्लोक में संक्षिप्त किया, कालान्तर में इसका पुनः संक्षिप्तीकरण श्री परशुराम के शिष्य श्री हरितायन द्वारा दस अध्यायों में किया गया। 'श्री विद्या' के उपासना खण्ड का विवेचन श्री परशुराम कृत 'कल्पसूत्र' में पाया जाता है, जिसको श्री विद्या का सारांश माना जाता है। यह निर्णय करना कठिन है कि इस ग्रन्थ की रचना कब हुई। इस ग्रन्थ के दो भाष्य उपलब्ध हैं जिनका रचनाकाल अर्वाचीन है। प्रथम भाष्य श्री भाष्कर के शिष्य श्री उमानन्द नाथ कृत "नित्योत्सव" टीका है जिसका रचनाकाल संवत् 1775 है। द्वितीय भाष्य श्री उमानन्दनाथ के शिष्य श्री रामेश्वर की रचना है, जिसका रचनाकाल संवत् 1831 कहा जाता है। इसके अलावा इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कोई अन्य जानकारी उपलब्ध नहीं है।[1]

---

1 श्री परशुराम कृत 'कल्पसूत्र' का सम्पादन श्री महादेव शास्त्री द्वारा किया गया है, जिसका प्रकाशन गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरिज द्वारा किया गया है।

निःसन्देह शाक्तपरम्परा वैदिकपरम्परा को तरह प्राचीन है। वेदों में जगत्-जननी मातृशक्ति का उल्लेख है, उन्हें शक्ति तथा मातृ 'जगत्-जननी' माना गया है। श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् तथा अन्य विद्वानों ने "शक्ति-सूक्त" से शाक्तसम्प्रदाय का प्रारंभ माना है। वेद तथा अन्य साहित्य में मातृशक्ति का अनेक प्रकार से उल्लेख किया गया है तथा उनकी स्तुति तथा आराधना की गई है।

वैदिक साहित्य में इस परम पूजनीय 'मातृ-शक्ति' का उल्लेख 'आदिति' 'वाक्' तथा 'उषा' को सम्बोधित ऋचाओं में किया गया है। ऋग्वेद में 'श्रीसूक्त' तथा 'देवीसूक्त' में मातृ भगवती की दैनिक आराधना की गई है। 'आदिति' को आद्य मातृशक्ति माना गया है[1]। उनको सभी देवताओं की माता कहा गया है। वेद की दो ऋचाओं में उन्हें पत्नी रूप में सम्बोधित किया गया है[2]। आदिति को तैत्तरीय तथा वाजसनेयि संहिताओं में विष्णु की पत्नी कहा गया है, तथा उन्हें अथर्ववेद में पृथ्वी (धरती) माना गया है[3]। पुराणों में भी आदिति का उल्लेख माता तथा दक्षकन्या की तरह किया गया है, कतिपय ऋचाओं में उन्हें 'सम्पूर्ण प्रकृति' माना गया है[4]।

वैदिक साहित्य में सूर्य के बाद सुवर्ण-वर्णा तथा सुवर्ण-हस्ता 'सविता' को सर्वोपरि महत्व दिया गया है, उसको प्रजापति के नाम से सम्बोधित किया गया है, तथा सविता देवी को जगत की जननी माना गया है।[5] इसी प्रकार ऋग्वेद में बालसूर्य को 'उषा' नाम से स्त्री रूप में पूजा गया है, तथा 20 ऋचाओं में 'उषा' की स्तुति की गई है। उषा को अंधकार का नाश करने वाली तथा सभी प्राणियों को जगाने वाली देवी कहा गया है, तथा उनको अंतरिक्ष (आकाश) की कन्या कहा गया है[6]। कतिपय ऋचाओं में उषा को स्वास्थ्य तथा सौंदर्य की देवी माना गया है[7]। श्री दवे की मान्यता है कि शाक्त दर्शन का आधार अब्रण ऋषि की कन्या कृत "वाक्सूक्त" से माना जाना चाहिये[8]।

---

1. अथर्ववेद 7|6|2.
2. ऋग्वेद 4|155|3, तथा 8|27|5
3. अथर्ववेद 13|1|28
4. ऋग्वेद 1|89|10
5. ऋग्वेद 4|53|2-1 तथा शतपथ ब्राह्मण 12|3|5
6. ऋग्वेद 5-80-6
7. ऋग्वेद 1-12-4 तथा 6-2-1, 1-123-11
8. शक्ति संप्रदाय एन दवे (गुजराती) बम्बई

उपनिषद साहित्य में दो ग्रन्थ "त्रिपुरोपनिषद्" तथा 'देवी-उपनिषद्" का उल्लेख महत्वपूर्ण है। त्रिपुरोपनिषद् के कतिपय श्लोकों का उद्भव 'सांख्यायन कल्पसूत्र' में पाया जाता है तथा देवी उपनिषद् के कतिपय श्लोक ऋग्वेद के 'वाक्सूक्त' में मिलते हैं।

वैदिक साहित्य के समानान्तर शाक्त का भी सूत्र साहित्य उपलब्ध है। इस संदर्भ में परशुराम कृत 'कल्प-सूत्र' का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है जिसका सम्बन्ध शाक्त संप्रदाय की उपासना पद्धति से है। इसी तरह अगस्त तथा नागानन्द कृत 'शक्ति सूत्र' तथा भारद्वाज कृत 'धर्मसूत्र' शाक्त संप्रदाय के सूत्र साहित्य के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। अद्वैत वेदान्त के महान् संस्थापक श्री गौडपाद भी शक्ति के उपासक माने गये हैं उनके द्वारा रचित 'श्री विद्या रत्न सूत्र' को उल्लेखनीय ग्रन्थ माना जाता है।

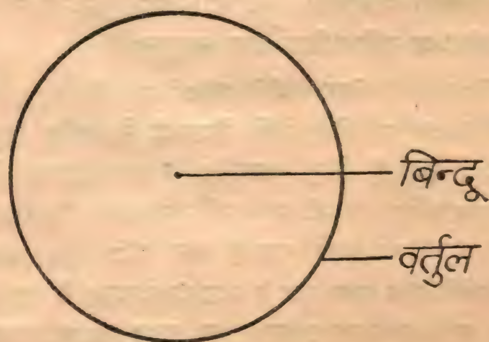
शाक्त संप्रदाय का प्रभाव पुराण साहित्य पर भी पड़ा है। 'श्री देवीभागवत', 'श्रीब्रह्माण्ड पुराण' तथा 'श्री मार्कण्डेय पुराण' में शाक्त संप्रदाय का प्रचुर उल्लेख मिलता है। शाक्त दर्शन का 'कालिका पुराण' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

अतः यह स्पष्ट है कि शाक्त दर्शन अत्यन्त प्राचीन है तथा यह एक विकसित सिद्धान्त है। इसका विकासक्रम भी वैदिक साहित्य की तरह संहिता, उपनिषद् तथा सूत्रसाहित्य से निर्धारित किया जा सकता है। इतिहासप्रसिद्ध श्री गौडपादाचार्य तथा श्री आद्यशंकराचार्य शक्ति के महान उपासक माने गये हैं जिन्होंने शाक्त ग्रन्थों की स्तुतियाँ तथा टीकायें लिखी हैं। इस सम्बन्ध में आद्यशंकराचार्य कृत सौन्दर्य लहरी" का उल्लेख किया जाना महत्वपूर्ण है।

शाक्त दर्शन तथा श्री शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में बहुत अधिक समानता है, किन्तु इनमें अन्तर भी है। दोनों सिद्धान्तों में अद्वैत ब्रह्म को ही सत्य (परमतत्व) माना गया है किन्तु तज्जनित 'माया सिद्धान्त' के बाबत इनमें स्पष्ट मतभेद हैं। निःसन्देह माया को सृजन शक्ति माना गया है, किन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत को मिथ्या माना गया है और अद्वैत ब्रह्म को मायावी सृजक शक्ति को भ्रमपूर्ण अभिव्यक्ति माना गया है। शक्ति संप्रदाय में इसके विपरीत ब्रह्म की सृजनशक्ति को सत्य मानते हुए उसको रचना जगत् को भी सत्य माने जाने का आग्रह किया गया है। क्योंकि शक्ति दर्शन के अनुसार सृजित जगत् तथा सृजनकर्ता शक्ति में कोई भेद नहीं है। अद्वैत वेदान्त के मतानुसार माया में ब्रह्म को छिपाने (आवरण) तथा उस पर प्रक्षेपण (विक्षेप) करने की शक्ति है। अतः माया द्वारा ब्रह्म ढक जाते हैं, तथा उन पर जगत का प्रक्षेपण होना कहा जाता है। शाक्त संप्रदाय के अनुसार चित्तशक्ति को ही आद्य शक्ति माना गया है, और यह चेतनशक्ति की

क्षमता प्रकाश (उजागर करने) तथा विमर्श (प्रतिबिंबित करने) की है। किन्तु शक्ति की इस विमर्श क्षमता के परिणामस्वरूप ही जगत को स्वतः अभिव्यक्ति होती है। अतः शक्ति परम्परा के अनुसार यह नानारूपी जगत भी सत्य है, क्योंकि विश्व या जगत शक्ति अथवा ब्रह्म की स्वतः संचालित इच्छा की ही अभिव्यक्ति है।

शाक्त दर्शन के अनुसार आद्य अर्थात् मूल शक्ति की अभिव्यक्ति तीन प्रकार से बतलायी गयी है। आद्य मूल शक्ति को गुणातीत माना गया है। जब इस मूल आद्यशक्ति में सृजन की स्वतः इच्छा जगती है, तब उसका स्वरूप एक बिन्दु के समान होता है बिन्दु के प्रतीक रूप में इच्छाएँ इर्द गिर्द घनीभूत तथा केन्द्रित होती हैं। इस बिन्दु को केवल प्रतीक के रूप में स्वीकार करना चाहिये। इस बिन्दु को 'परा बिन्दु' अथवा 'अनुभवातीत बिन्दु' की संज्ञा से पुकारा गया है। यह स्थिति सृजन क्रिया प्रारंभ के पूर्व की है; तथा इस स्तर पर शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है। इस स्थिति तक अहम् (Ego) भाव का भी उदय नहीं हो पाता, क्योंकि अहम् के प्रादुर्भाव से ही भेद क्रिया का प्रारंभ माना गया है। अहम् भाव के प्रादुर्भाव के साथ ही चेतन उजागर होने लगता है। अहम् के माध्यम से ही जो है वह जाना जा सकता है। आद्य शक्ति के चेतन अभिविन्यास (Conscious Orientation) को एक बिन्दु सहित वर्तुल के प्रतीक के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस प्रतीक का 'सबिन्दु वर्तुल' की संज्ञा से तंत्र साहित्य में उल्लेख किया गया है। यथा :—

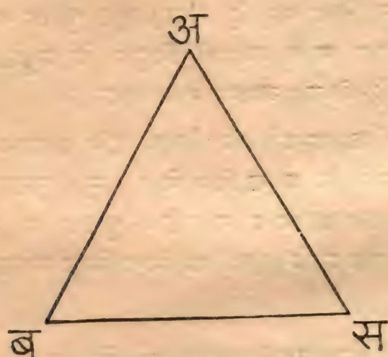


चित्र संख्या 1 : सबिन्दु वर्तुल

तंत्र साहित्यों में इसको 'काली' की संज्ञा से भी सम्बोधित किया गया है। शब्द **काली** का तात्पर्य 'जानने वाला या पहिचानने वाला' है। (कालजानना)। इसका अर्थ समय (काल) से भी है क्योंकि जब अहम् का प्रादुर्भाव होता है तब से ही अर्थात्

उस समय से ही आत्मभाव का प्रारंभ होता है। काल को आद्य (सर्वप्रथम) तथा ज्ञान का भण्डार भी कहा गया है।

इस अनुभवातीत स बिन्दु से चित्त की त्रिगुणात्मक शक्ति (ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया) की अभिव्यक्ति एक त्रिकोण के प्रतीक द्वारा स्पष्ट की गई है। सर्व प्रथम ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है जिसको त्रिकोण की चोटी (Appex) के द्वारा निम्न चित्र में दर्शाया जाता है :—



चित्र संख्या 2 : सबिन्दु त्रिकोण

चित्र में (अ) बिन्दु ज्ञान का प्रतीक है जो अनुभवगम्य है, इसको 'शब्द ब्रह्म' 'ब्रह्म' तथा 'शब्द' कहा गया है। इसके पश्चात् द्वितीय अभिव्यक्ति अक्षर 'ब' है; जो कि असृजनात्मक क्रिया बिन्दु है और इसको 'नाद' संज्ञा से पुकारा गया है। शाक्त दर्शन के अनुसार सृजनात्मक शक्ति की 15 कलाएं मानी गइ हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा की 15 कलाए हैं। उपरोक्त पन्द्रह कलाओं को चार खण्डों में बाँटा गया है जिनको क्रमश: 1 भुवन, 2. 'भोग्य, 3. भोग साधन' तथा 4. 'भोगभूमि' माना गया है।

चित्त शक्ति की तृतीय तथा अन्तिम अभिव्यक्ति को अक्षर 'स' से स्पष्ट किया गया है। यह बिन्दु जगत की अभिव्यक्ति का सूचक है, तथा इस बिन्दु 'स' को "बीज" संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। उपरोक्त तीनों प्रकार की शक्तियों का आपसी सम्बन्ध है अतः इनको एक त्रिकोण के प्रतीक के द्वारा स्पष्ट किया गया है, इसके तीन बिन्दु क्रमशः 'ज्ञान', 'सृजन', तथा 'इच्छा' है। इस प्रतीक को शाक्त सम्प्रदाय तथा तंत्र साहित्य में "सबिन्दु त्रिकोण" कहा गया है। इस प्रतीकतंत्र की अधिष्ठात्री देवी, भगवती त्रिपुरा सुन्दरी हैं और त्रिपुरा विषयक विज्ञान को "श्रीविद्या" कहा गया है। इस यंत्र अथवा प्रतीक के द्वारा आद्य-मातृ शक्ति भगवती त्रिपुरा सुन्दरी का स्वतः अनुभव अभिव्यक्त होता है।

त्रिपुरारहस्य-भूमिका

त्रिपुरा-रहस्य' जिसको 'दत्त भार्गव संवाद' कहा जाता है, वैदिक संहिता साहित्य का एक संभाग माना गया है।[1] इस प्राचीन ग्रन्थ को तंत्र ग्रन्थ कहा गया है।[2] त्रिपुरा-रहस्य के तीन खण्ड माने जाते हैं। प्रथम खण्ड में भगवती श्री त्रिपुरादेवी की स्तुति तथा माहात्म्य का वर्णन है[3]। द्वितीय खण्ड त्रिपुरा-रहस्य (ज्ञान खण्ड) है जिसके 22 अध्यायों एवं 2163 श्लोकों में भगवती श्री त्रिपुरा के रहस्य को सुस्पष्ट किया गया है, तथा प्रस्तुत पुस्तक का प्रमुख आधार है[4]। त्रिपुरा रहस्य का तृतीय खण्ड भगवती त्रिपुरा के अनुष्ठान सम्बन्धी कर्मखण्ड विषयक 'चर्या खण्ड' है, जो अब अप्राप्य माना जाता है।

त्रिपुरा रहस्य (ज्ञानखण्ड) के लेखक ऋषि हरितायन कहे जाते हैं जो कि श्री परशुराम भार्गव के प्रमुख शिष्य थे। सम्पूर्ण पुस्तक श्री हरितायन द्वारा श्री नारद को सुनाया जाना बतलाया गया है। पुस्तक की विषयवस्तु को दत्त-भार्गव के बीच संवाद तथा इसके रहस्यों को भिन्न-भिन्न आख्यानों के द्वारा सुस्पष्ट किया गया है।

त्रिपुरा-रहस्य (ज्ञानखण्ड) मूल संस्कृत में हिन्दी टीका सहित[5] तथा

---

1. प्रस्तुत पुस्तक में डा० अरबिन्द बसावड़ा द्वारा प्रस्तुत लेख शाक्त संप्रदाय का ऐतिहासिक विवेचन में देखें।
2. पंडित गोपीनाथ कविराज ने त्रिपुरा-रहस्य संस्कृत ग्रन्थ की प्रस्तावना में इसको तंत्र ग्रन्थ माना है। सस्तु साहित्य मुद्रणालय अहमदाबाद से प्रकाशित गुजराती अनुवाद की भूमिका पृष्ठ संख्या 4।
3. त्रिपुरा-रहस्य (माहात्म्य खण्ड) की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर में सुरक्षित है जिसमें 30 अध्याय तथा 6684 श्लोक संग्रहीत हैं।
4. प्रस्तुत पुस्तक में डा० अरविन्द-बसावड़ा द्वारा प्राचीनतम त्रिपुरारहस्य (ज्ञानखण्ड) द्वारा प्रतिपादित 'श्री विद्या' का आधुनिकतम मनोविज्ञान शास्त्री युग द्वारा प्रस्तुत 'व्यधिकरण प्रक्रिया' के साथ तुलनात्मक अध्ययन चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'त्रिपुरा-रहस्य' शीर्षक अंग्रेजी पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है।
5. त्रिपुरा रहस्य (ज्ञानखण्ड) मूल संस्कृत तथा समश्लोकी हिन्दी अनुवाद चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी द्वारा प्रकाशित है।

इसके मराठी [1] तथा गुजराती[2] अनुवाद भी सुलभ हैं।

त्रिपुरा-रहस्य (ज्ञानखण्ड) के प्रणयन की कहानी निम्नानुसार उल्लिखित है :–

'एक समय श्री सुमेध हरितायन ने गुरु श्री परशुराम भार्गव के पास जाकर सर्वोच्च कल्याण सम्बन्धी बोध कराने की प्रार्थना की। गुरु श्री परशुराम जी को अपने शिष्य श्री हरितायन की इस इच्छा को सुन कर उन्हें पूर्वघटित उनके गुरु भगवान दत्तात्रेय तथा उनके बीच हुये सवाद का स्मरण हो आया। पूर्व काल में भगवान श्री दत्तात्रेय जी ने भार्गव श्री परशुराम को भगवती कला के मंत्र की दीक्षा दी थी। अतएव गुरु परशुराम के आदेशानुसार ऋषि हरितायन बन में जाकर भगवती कला अम्बा का ध्यान करने लगे। इस पर ऋषि हरितायन को स्वप्न में भगवती के दर्शन हुए और उन्हें गुरु के पास पहुँचने का आदेश मिला। किन्तु स्वप्नभाव-नष्ट हो जाने पर ऋषि श्री हरितायन शंकाग्रस्त हो गये, तब पुनः आकाशवाणी के द्वारा स्वप्न में देवी द्वारा दिये गये आदेश का समर्थन हुआ जिससे श्री हरितायन का संशय नष्ट हो गया और भगवती के आदेशानुसार अपने गुरु श्री परशुराम जी के पास पहुँचे। दयालु गुरु ने ऋषि हरितायन को श्री विद्या की दीक्षा दी और उनको सलाह दी कि वह भगवती की स्तुति करें, तदनुसार भगवती त्रिपुरा की स्तुति रचना के उद्देश्य से ऋषि हरितायन भगवती मीनाक्षी के निवास स्थान पर जाने के लिये रवाना हो गये किन्तु मार्ग में वह जब हालानगरी में पहुँचे तब पुनः विस्मृति-ग्रस्त हो गये और वह यह भूल गये कि उन्हें कहाँ तथा किस उद्देश्य की पूर्ति हेतु पहुँचना है। अतः पुनः श्री हरितायन ध्यानमग्न हो गये। तब ध्यानावस्था में ऋषि हरितायन को श्री नारद जी के दर्शन हुए। ऋषि हरितायन का मन एकदम शान्त था, किन्तु उन्हें ध्यान में श्री नारदजी के साक्षात्कार से बड़ा आश्चर्य हुआ अतः उन्होंने श्री नारद जी से इसका कारण पूछा तो नारदजी ने उन्हें कहा कि स्वर्गलोक से उनके पिता का यह सन्देश पाकर उनसे मिले हैं कि ऋषि श्री हरितायन के द्वारा उनको भगवती त्रिपुरा की स्तुति सुनने को मिलेगी। श्री नारद जी द्वारा उपरोक्त खुलासा सुनते ही ऋषि हरितायन की विस्मृति नष्ट हो गई और उन्हें स्मरण हो आया कि उनको भगवती त्रिपुरा की स्तुति पाठ करने के निमित्त गुरु-आदेश मिला था यद्यपि महर्षि नारदजी के स्पष्टीकरण के द्वारा श्री हरितायन को

---

1. त्रिपुरा रहस्य (दत्त भार्गव संवाद) का मराठी अनुवाद श्री बा. बी. जोशी द्वारा गुरु परम्परा पद्धति से किया गया है - जिसके आधार पर डॉ० अरविन्द वेसावड़ा ने अपना तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।
2. सस्तु साहित्य वर्धक कार्यालय से त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड का गुजराती अनुवाद श्री विष्णुप्रसाद अमृतलाल भट्ट द्वारा प्रकाशित किया गया है।

अपनी यात्रा के मूल उद्देश्य का स्मरण हो आया तथापि उनको इस विस्मृति की घटना से बड़ा आश्चर्य हुआ और वह इस विस्मृति की घटना के कारणों का पता लगाने के लिये बेचैन हो उठे, फलतः ऋषि हरितायन तथा महर्षि नारद दोनों विस्मृति के कारणों पर प्रकाश डालने हेतु भगवान श्री ब्रह्माजी की प्रार्थना करने लगे। उभय आर्त भक्तों की प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान श्री ब्रह्माजी ने उन्हें दर्शन दिये और उन्हें निम्नानुसार बोध दिया—

पूर्व जीवन में श्री हरितायन अलार्क का पुत्र था तथा अलार्क पत्नी भी भगवती शक्ति की परम उपासिका थी। पुत्र हरितायन बाल्यावस्था में अपनी माता द्वारा अपने पिता अलार्क को 'आई' सम्बोधन से पुकारते हुये सुनता था। शब्द 'आई' स्त्रीवाचक सम्बोधन है। बालक हरितायन ने उपरोक्त परिस्थितियों के कारण शब्द 'आई' का त्रुटिपूर्ण अर्थ ग्रहण कर लिया। अतः वह भगवती की कृपा सम्पादित नहीं कर सका और बाल्यावस्था में रोगग्रस्त होकर मर गया। पूर्व जन्म की उपरोक्त त्रुटि के फलस्वरूप श्री हरितायन को इस जन्म में भी विस्मृति-ग्रस्त होना पड़ा, किन्तु भगवान श्री ब्रह्माजी के समाधान के फलस्वरूप ऋषि श्री हरितायन का मन स्वच्छ हो गया और इस प्रकार ऋषि हरितायन श्री नारद जी की उपस्थित में भगवती त्रिपुरा की स्तुति रचना में प्रवृत्त हो गया।

प्रस्तुत पुस्तक का मूल लेखक :—

'त्रिपुरा-रहस्य' ग्रन्थ का मूल प्रणेता भगवान श्री दत्तात्रेय[1] को माना गया है जिनको हिन्दू परम्परा के अनुसार आदि गुरु कहा गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के अतर्गत भगवान श्री दत्तात्रेय द्वारा श्री परशुराम को आत्म-ज्ञान का बोध दिया गया है। श्री परशुराम जी को श्री विष्णु का 'अवतार' माना जाता है[2] श्री परशुराम जी को 'रामायण' महाकाव्य के नायक अयोध्यापति श्रीराम के पूर्ववर्ती विष्णु का अवतार कहा जाता है। श्री परशुराम जी का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, किन्तु एक क्षत्रिय द्वारा उनके पिता ऋषि जमदग्नि का अकारण वध किये जाने के फलस्वरूप श्री परशुराम सम्पूर्ण क्षत्रियों के प्रति क्रोधित हो गये तथा अपने पिता की हत्या के प्रतिरोध में उन्होंने समग्र क्षत्रिय जाति को नष्ट कर डालने की भीषण प्रतिज्ञा कर ली। अपनी प्रतिज्ञा

---

1 पुराणानुसार भगवान दत्तात्रेय को श्री ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का सम्मिलित बालरूप देवता माना गया है।

2 भगवान श्री विष्णु के दश अवतार क्रमशः (1) मत्स्य (2) कच्छ (3) वाराह (4) नृसिंह (5) वामन (6) परशुराम (7) राम (8) कृष्ण (9) बुद्ध तथा (10) कल्कि—कहे जाते हैं।

की पूर्ति हेतु उन्होंने भगवान शंकर की आराधना की। भक्तवत्सल शिव श्री परशुराम जी को तपस्या-आराधना से प्रसन्न हुए तथा उन्हें प्रतिज्ञा की सफलता का आशीर्वाद दिया तथा उन्होंने श्री परशुराम जी को उद्देश्यपूर्ति हेतु एक परशु तथा एक दिव्य धनुष दिया। भगवान शिवप्रदत्त परशु धारण करने के कारण उनका 'परशुराम' नाम विख्यात हुआ। श्री परशुराम ने इन दिव्य आयुधों की मदद से पृथ्वीमंडल के समग्र क्षत्रियों (जिसमें महिलायें तथा बच्चे भी सम्मिलित थे) को 21 बार नष्ट कर डाला और इस प्रकार श्री परशुराम जी ने समग्र विश्व को जीत लिया। एक्कीस बार समग्र क्षत्रिय जाति के नाश की भीषण प्रतीज्ञा पूर्ति के पश्चात् श्री परशुराम जी के हृदय में निरपराध महिलाओं एव बच्चों को निर्मम हत्या किये जाने के कारण पछतावे की भावना का उदय हुआ अतः उन्होंने प्रायश्चित्त करने का विचार किया तथा भविष्य में किसी भी क्षत्रिय के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाने को प्रतीज्ञा की।

किन्तु राजा जनक द्वारा आयोजित सीता-स्वयंवर के प्रसंग पर जब श्री परशुराम जी ने श्री राम द्वारा शिवधनुष भंग समाचार सुना तब पुनः श्री परशुराम जी क्रोधग्रस्त हो उठे तथा श्रीराम का वध करने हेतु वहाँ जा पहुँचे। श्रीराम ने श्री परशुराम को ब्राह्मण समझ कर उनके प्रति आदर व्यक्त किया तथा धनुष-भंग की घटना के लिए क्षमा प्रार्थना की, किन्तु श्री परशुराम का क्रोध शान्त नहीं हुआ उन्होंने श्री राम की तीव्र भर्त्सना की। श्रीराम ने उनको समझाने का बड़ा प्रयत्न किया और उनको यह भी अवगत किया गया कि वे किसी भी ब्राह्मण के विरुद्ध किसी भी स्थिति में हथियार नहीं उठाने की प्रतीज्ञा में बँधे हैं अतः वे श्री परशुराम जी के शस्त्र के सम्मुख मारा जाना भी पसन्द करेंगे, किन्तु श्री परशुराम जी का क्रोध तब भी शान्त नहीं हुआ और श्री राम द्वारा उनको केवल ब्राह्मण कहे जाने पर उनका गुस्सा अधिक बढ़ गया क्योंकि श्रीराम ने उनके द्वारा एक्कीस बार समग्र क्षत्रिय जाति को नष्ट करने की घटना का कोई उल्लेख नहीं किया था। फलतः क्रोधग्रस्त श्री परशुराम ने अपना दिव्य धनुष श्रीराम के हाथों में जबरदस्ती पकड़ा दिया और श्रीराम को उक्त धनुष को खींचकर उसपर तीर चढ़ाने की चुनौती दे डाली। शान्त तथा साधुमना श्री राम ने श्री परशुराम प्रदत धनुष पर बड़ी सरलता के साथ डोरी खींच डाली तथा उस पर तीर चढ़ा कर उनसे पूछा कि इस चढ़े हुए तीर को किस पर छोड़ा जाय ?

श्री परशुराम श्री राम की हस्त लाघवता तथा उनकी असीम शक्ति का अनुभव कर लज्जित हो गये क्योंकि उनको धारणा में कोई भी सामान्य जीवधारी मानव उक्त दिव्य शिव धनुष पर तीर सन्धान के लिए समर्थ नहीं था, फलतः वे श्रीराम की दैविक शक्ति के सामने नतमस्तक हो गये तथा श्रीराम से पराजय स्वीकार करते हुए उनसे क्षमा प्रार्थना करने लगे।

श्रीराम के सन्मुख पराभव स्वीकार करने के बाद श्री परशुराम अपने निवास स्थान की ओर लौटने लगे। निरपराध महिलाओं और बच्चों की हत्या किये जाने तथा भविष्य में किसी भी क्षत्रिय के विरुद्ध शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा भंग के कारण उनको बड़ा दुःख हुआ और वे प्रायश्चित्त की आग में जलने लगे।

जब इस प्रकार पराभव तथा पछतावे में दुखित श्री परशुराम अपने घर की ओर लौट रहे थे तो मार्ग में उनकी भेंट एक कुरूप व्यक्ति से हो गई। उस कुरूप तथा पागल सरीखे दिखने वाले व्यक्ति के कपड़े फटे हुए और उसके बाल बिखरे हुए अस्तव्यस्त थे। वह प्रायः नग्नावस्था में था तथा उसकी जाति तथा गोत्र का उसके पास कोई चिह्न अथवा संकेत नहीं था। फिर भी उसका शरीर अद्भुत प्रकार से दैदीप्यमान था। श्री परशुराम उसको देखकर आश्चर्यचकित हो उठे अतः उसकी जानकारी प्राप्त करने हेतु उन्होंने उसके शरीर के तेज की बड़ी प्रशंसा करते हुए उसका परिचय पूछा। इस पर उक्त पुरुष तथा विक्षिप्त दिखने वाले व्यक्ति ने श्री परशुराम पर पत्थर बरसाना शुरू कर दिया. इस पर श्री परशुराम ने उसको दबोच लिया तथा शिलाओं पर पछाड़ मारा, किन्तु प्रत्येक पछाड़ के पश्चात् वह व्यक्ति पूर्ववत् पुनः उठ जाता था और निरन्तर हँसता रहता था, मानो उसको कोई चोट ही नहीं लगी हो। श्री परशुराम उसकी इस असीम धैर्यशीलता का अनुभव कर उससे प्रभावित हो गये और उन्हें विश्वास हो गया कि वह साधारण व्यक्ति नहीं, निःसंदेह कोई महान संत है। फलतः श्री परशुराम उस कुरूप तथा विक्षिप्त प्रतीत होने वाले संत के चरणों में नतमस्तक हो उसका परिचय देने की प्रार्थना करने लगे, तब उसने श्री परशुराम को बोध दिया कि 'अन्य' से सम्बन्धित प्रश्नों के प्रत्युत्तरों का कोई अर्थ ही नहीं है, जब तक कि व्यक्ति यह नहीं जान लेता कि वह स्वयं क्या है ?

उक्त विक्षिप्त सा दिखने वाले संत के इस रहस्यपूर्ण वाक्यांश का अर्थ श्री परशुराम जी नहीं समझ सके अतः इसका स्पष्टीकरण करने हेतु उन्होंने पुनः प्रार्थना की, जिसके प्रत्युत्तर में उस संत ने अपना परिचय 'संवर्त' कह कर दिया तथा उसने श्री परशुराम को उसके गुरु भगवान दत्तात्रेय के पास जाकर 'आत्म बोध' प्राप्त करने की सलाह दी।

गुरु श्री दत्तात्रेय से भेट :-

संत संवर्त के प्रसंग के पश्चात् श्री परशुराम अपने गुरु श्री दत्तात्रेय से भेंट करने तुरन्त 'गन्धमादन' पर्वत पर पहुँचे जिसकी चोटियाँ बादलों से ढका हुई थीं। पर्वत देवकन्याओं के मधुर संगीत से तथा विद्याधर आदि प्रेममग्न जोड़ों के नृत्यों से गुंजारित था। पर्वत पर नाना प्रकार के वृक्ष समूह थे जिन पर प्रसन्न पक्षियों का कल-कल संगीत व्याप्त था।

वहाँ पर श्री परशुराम ने एक ऋषि को पर्णकुटी के दरवाजे पर बैठे हुए देखा, जिससे इन्होंने पूछा तो उसने पर्णकुटी में जाकर श्री गुरु जा से भेंट करने कि अनुमति प्रदान की।

पर्णकुटी में श्री परशुराम ने एक दिव्य व्यक्ति के दर्शन किये जिनकी सुन्दरता और शक्ति अद्वितीय थी। उसको देखकर साक्षात् मोहिनी (भगवान का मनोहारी स्त्री स्वरूप) भी उनके प्रेम में आसक्त हो सकती थी। उसके अलौकिक व्यक्तित्व में अपरिमित सौन्दर्य असीम शक्ति के साथ तपस्या की अग्निमयी तेजस्विता का अद्भुत प्रकाश था। वे एक महान सुन्दरी (विष्णु प्रिया लक्ष्मी सदृश) युवती के दीर्घ आलिगन में लिप्त थे और उनके सम्मुख एक मधुघट विद्यमान था। श्री परशुराम विचार करने लगे कि संतों का जीवन भी कितना रहस्यमय और विचित्रत्तापूर्ण है? इनके चारों तरफ कितना अद्भुत वातावरण है? उन्हें यह भी शंका हुई कि कदाचित् वे उनके गुरु न हों, जिनकी खोज में वे यहाँ तक आ पहुँचे हैं। अथवा वह व्यक्ति कोई अन्य पुरुष हो सकता है, फिर भी उनको तो अपने गुरु के पास जाकर साक्षात्कार करना ही है, अतः इस समय उनको ही अपना गुरु मान लेना चाहिये क्योंकि सच्चाई और झूठ भी तो मानवी मान्यतायें ही हैं।

जिस समय श्री परशुराम उपरोक्त प्रकार से तर्क वितर्क में व्यस्त थे उस समय श्री दत्तात्रेय ने इस उधेड़बन से उबारने हेतु उसको भृगुपुत्र के सम्बोधन से पुकार कर उसका स्वागत किया और उसकी कुशल पूछी। उन्होंने श्री परशुराम से पूछा कि उसकी प्रायश्चित्त विधि में कोई व्यवधान तो नहीं हो रहा है? उन्होंने श्री परशुराम को भृगुवंश का रत्न बतलाते हुये उसके महत् कार्यों की प्रशंसा की। उन्होंने यह भी दीक्षा दी कि सच्चे मानव जीवन का उद्देश्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है। जो लोग इन्द्रियों में फसे हुये हैं, वह जीवित होने पर भी मृतक सदृश हैं। भगवान श्री दत्तात्रेय ने यह भी समझाया कि उन्होंने पूर्व में अलिप्त स्थिति तक पहुँचने के लिये सभी प्रकार के कार्यों का त्याग किया था, उनकी धारणा में स्वाद तथा काम-लोलुपता ही मानव के सबसे बड़े शत्रु हैं, क्योंकि अनेक व्यक्ति स्वाद और भोग के शिकार हो चुके हैं, अतः जिस व्यक्ति ने इन्द्रियों को जीत लिया है वही सच्चे अर्थ में विश्वविजयी हैं।

गुरु श्री दत्तात्रेय ने उसको यह भी स्मरण कराया कि अनेक व्यक्तियों ने उनका साथ छोड़ दिया है क्योंकि वह सुन्दरी और सुरा के साथ जीवन व्यतीत करते हैं। अनेक अज्ञानी उनकी निन्दा और भर्त्सना भी करते हैं, इसलिए वह किस अभिप्राय से उनके पास उपस्थित हुआ है। श्री दत्तात्रेय ने श्री परशुराम को उनके पास आने का कारण स्पष्ट करने का आग्रह किया, ताकि वह उसको भलीभांति जानकर उसकी मदद करने की चेष्टा कर सकें।

इस प्रकार भगवान दत्तात्रेय के साथ श्री परशुराम की प्रथम भेंट सम्पन्न हुई तथा इसके पश्चात् आदि गुरु श्री दत्तात्रेय ने परशुराम को जो बोधदीक्षा दी उसका वर्णन प्रस्तुत पुस्तक की विषयवस्तु है; जो निम्नानुसार है :—

पुस्तक की प्रमुख समस्या :—

श्री परशुराम ने तब अपने गुरु के समक्ष अपने जीवन तथा अनुभवों की व्याख्या करते हुये अनेक प्रश्न प्रस्तुत किये। उस समय गुरु श्री दत्तात्रेय ने उसके किसी प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया अपितु उनको भगवती त्रिपुरा की आराधना करने का उपदेश दिया। परशुराम ने गुरु-आदेश के पालन में कई वर्ष तक भगवती त्रिपुरा की आराधना की किन्तु फिर भी उनके मन को वांछित शान्ति प्राप्त नहीं हुई। श्री परशुराम के मन पर संवर्त ऋषि के धैर्यपूर्ण जीवन व्यवहार का बड़ा प्रभाव था और वे स्वय को ऋषि संवर्त से सर्वथा विपरीत स्थिति का पाते थे क्योंकि श्री परशुराम अपने आपको क्रोध तथा वासना का प्रतीक समझते थे। उनको ऋषि संवर्त की परम शान्ति और धैर्य पूर्वक आचरण को देखकर बड़ा आश्चर्य था। किस प्रकार ऋषि संवर्त कर्म बाधिता और मानवी प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर इस प्रकार की तटस्थ स्थिति को प्राप्त कर सके हैं, इस बाबत श्री परशुराम बार बार विचार करने लगे, निःसन्देह उनको यह भी अनुभव होने लगा था कि वस्तुओं में सुख की खोज किया जाना निरर्थक और सारहीन है। उनको यह भी ज्ञान हो चुका था कि एक ही कर्म को बार बार पुनरावृत्ति से प्राप्त होने वाले सुख से सच्चा सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता, और सन्तोष बिना सुख का भोग किया जाना मानव जीवन का सच्चा उद्देश्य नहीं हो सकता। श्री परशुराम सहज स्थिति प्राप्त करने की आकांक्षा रखते थे ताकि वह कर्म तथा अकर्म की दोनों स्थितियों में तटस्थतापूर्ण समान भावना रख सकें। वह ऋषि संवर्त की तरह निर्विघ्न असीम शान्ति तथा चट्टान की तरह दृढ़तापूर्ण अबाधित स्वतंत्र जीवन व्यवहार की खोज के लिये प्रयत्नशील थे जिसका दर्शन उन्हें ऋषि संवर्त के चरित्र में हुआ था। अतः संवर्त की तरह अनन्त शान्ति किस प्रकार प्राप्त की जाय ? श्री परशुराम को यही प्रमुख समस्या थी, और इस पुस्तक की भी यही मुख्य विषय वस्तु है।

त्रिपुरा-रहस्य अर्थात् दत्त-भार्गव संवाद का प्रारंभ विन्ध्य पर्वत के सन्निकट यात्रियों की विनाश कथा से होता है[1]। इस कहानी के अन्तर्गत भटकते यात्रीगण ने भूख से व्याकुल होकर एक विषैला फल 'काजू' समझकर क्षुधा-शान्ति के लिये खा लिया जिसके फलस्वरूप उनके अंग जलने लगे तो पुनः जलन शान्ति हेतु उन यात्रियों

1 त्रिपुरा रहस्य (ज्ञानखण्ड) का अध्याय २

ने धतूरे का फल 'नीबू' समझ कर खाया जिसके परिणाम स्वरूप यात्रीगण विक्षिप्त स्थिति को प्राप्त हुये और इस पागलपन के कारण अन्त में जाकर आपस में ही कट मरे। इस दृष्टान्त कहानी का उद्देश्य यह है कि मानव की सर्वोच्च खोज के लिये जीवन की समस्याओं के प्रति सर्वप्रथम पूर्ण जागरूक होना चाहिये। एक साधक तथा एक साधारण व्यक्ति में अन्तर केवल यही है कि सामान्य साधारण मानव तो विवेकहीन होकर अन्धे की तरह अपना जीवन यापन करता है, और वह चैतन्य के प्रकाश के बिना कार्यरत रहता है. जिसके फलस्वरूप वह अपने जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य को प्राप्त करने में विफल रहता है और अन्त में मृत्यु का ग्रास बन जाता है किन्तु विवेकशील जागरूक साधक पूर्ण चैतन्य के प्रकाश में जीवन व्यवहार का निर्वाह करते हुये वांछनीय उद्देश्य की प्राप्ति करने में समर्थ होता है। विवेकपूर्ण जागरूक जीवन-निर्वाह हेतु गुरु श्रेष्ठ श्री दत्तात्रेयजी ने संत समागम की आवश्यकता पर जोर दिया है, क्योंकि संतों के समागम के वातावरण में ही मानव अपनी समस्याओं के प्रति सफलतापूर्वक जागरूक रह सकता है तथा वह अपने जीवन के उद्देश्यों के प्रति सदैव इस सम्यक् ज्ञान के कारण पूर्ण सावधान एवं जाग्रत रह सकता है।

त्रिपुरा रहस्य : ज्ञानखण्ड की दूसरी महत्वपूर्ण कहानी राजकुमार हेमचूड तथा व्याघ्रपाद मुनि की तापस धर्मपुत्री हेमलेखा के सहजीवन का आख्यान है।[1] इस दृष्टान्त-उपाख्यान द्वारा वह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार एक विदुषी तथा आत्म जाग्रत महिला भ्रान्तिजन्य मानव को भी सत्य का साक्षात्कार करा सकती है, तथा इस कथानक के माध्यम से विदुषी राजकुमारी द्वारा मोहग्रस्त राजकुमार को अज्ञान से निकालने की प्रक्रिया पद्धति का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसके फलस्वरूप राजकुमारी हेमलेखा द्वारा राजकुमार हेमचूड को सर्वोच्च कल्याण प्राप्ति के लिये जागरूक एवं प्रवृत्त किया जाता है और अन्त में वह 'आत्म ज्ञान' प्राप्त करने में सफल होता है।

उपरोक्त कथानक प्रणाली के विश्लेषण से यह स्पष्ट किया गया है कि सर्वप्रथम साधक की चित्तवृत्तियों को बाह्य नाशवान तथा गलत प्रपंचों से हटाकर उनको अन्तमुंखी बनाना चाहिये ताकि मन बाहरी झूठे प्रलोभनों से मुक्त होकर अन्दर की ओर आत्म आमुख बन सके। इस स्थिति की तरफ अग्रसर किये जाने के लिये समस्त बाह्य रुचियों का तर्कसंगत तथा सही ढंग से उनका योग्य मूल्यांकन किया जाना चाहिये ताकि मानव बाहरी वृत्तियों की निस्सारता को तर्क की कसौटी पर

---

1 त्रिपुरा रहस्य (ज्ञानखण्ड) अध्याय : ३ से अध्याय १० तक

स्वयं अनुभव कर सके, तथा पूरी समझ और विवेक के साथ केवल मात्र वह अर्न्तमुखी स्थित की ओर सहज रूप से प्रवृत्त हो सके। बाहर की ओर जाती हुई वेगवान वृत्तियों को अन्दर की ओर मोड़कर उन्हें आत्म केन्द्रित किया जाना निःसन्देह यह एक कठिन तपस्या अथवा साधन हैं और इस स्थित में साधक को तीव्र वेदना का अनुभव भी करना पड़ता है। जब राजकुमारी हेमलेखा ने अपनी पति राजकुमार को शारीरिक मोह तथा वासना की निस्सारता का अनुभव कराया था, तब निःसन्देह राजकुमार की बाहर जाने वाली वृत्तियाँ तो रुक गई किन्तु वर्षों तक वह अपनी वृत्तियों को अर्न्तमुखी दिशा में प्रवृत नहीं कर सके और इस दौरान उनको असहाय दुःख और आत्मक्लेश का अनुभव करना पड़ा, किन्तु विदुषी तथा आत्मज्ञानी पत्नी के सहज सानिध्य तथा सामाजिक बोध वार्तालाप के कारण अन्त में जाकर राजकुमार को आत्मज्ञान का सर्वोच्च कल्याणकारी प्रसाद उपलब्ध हुआ। प्रारंभ की स्थिति में तो राजकुमार की वृत्तियाँ उसके स्वभाव के कारण बाह्य प्रलोभनों में लिप्त रहीं, किन्तु जब उसने उसकी इन बाह्य प्रवृत्तियों के यथार्थवादी परिणाम को अपनी प्रेमशीला पत्नी के माध्यम से सही प्रकार से समझ लिया तब उसमें इन मायवी मोह प्रलोभनों के पीछे भगने वाली वृत्तियों के प्रति पछतावे की भावना का अनुभव हुआ। मध्यावस्था की खींचातानी की संघर्षपूर्ण स्थिति राजकुमार के जीवन में बड़ी दुखद तथा क्लेशपूर्ण थी क्योंकि मनोवृत्तियों के बाहर जाने में तो उनकी निस्सारता का उन्हें ज्ञान था, और अन्दर की ओर प्रवृत्त होने वाले ज्ञानमार्ग का कोई दरवाजा वह तलाश नहीं कर सके थे, फलतः वह उसका जीवन रस आगे अथवा अन्दर प्रवाहित नहीं हो पाता था फलतः वे बेहद परेशानी में पड़ गये थे, किन्तु अन्त में आकर जब उसके जीवन रस ने सहज रीति से अन्तर्मुखी दिशा ग्रहण कर ली तब उसका तादात्म्य सम्बन्ध व्यापक सनातन आत्मा से हो गया जो कि असीम परम आनन्द का स्रोत तथा मूल केन्द्र है। युंग की मान्यतानुसार भी एक मात्र विराट आत्मा ही सर्वव्यापी सनातन अखण्ड आनन्द रूप है जिसकी अनुभूति तथा रसास्वादन केवल अन्तर्मुखी वृत्तियों के द्वारा ही स्वय हो सकता है।

इस प्रकार राजकुमार हेमचन्द्र द्वारा स्वानुभव भूमिका तक पहुँचाने के पश्चात् विदुषी राजकुमारी ने उसको उसके मन की प्रक्रियाओं की ओर ध्यान केन्द्रित करने का आग्रह किया, ताकि उसको बाह्य जगत की वस्तुओं के प्रति होने वाले मोह क कारणों तथा उनको क्षणभंगुर अवस्था के फलस्वरूप पूर्ण सन्तुष्टि के अभाव का सम्यक् ज्ञान प्रतीकात्मक रूप से हो सके।

प्रतीकात्मक उदाहरण के द्वारा आत्मज्ञानी राजकुमारी ने यह प्रमाणित किया कि पूर्ण चैतन्य अथवा आत्मा तथा व्यक्ति का जीवात्मा में कोई भेद अथवा अन्तर नहो है, किन्तु जब पूर्ण चेतन अज्ञान से ग्रसित हो जाता है, तब जीवात्मा

विराट आत्मा के साथ के अपने संयुक्त एकात्म भाव-अभेदभाव को भूल जाता है और सर्वव्याप्त आत्मा से पृथक् जीवात्मा को अलगाव का दुख भुगतना पड़ता है। अतः शुद्ध प्रज्ञा (आत्मा) अज्ञान ग्रस्त होने पर अपनी जीवात्मा के साथ की पूर्ववत् इकाई को भूल जाती है और आत्मा तथा जीव के अज्ञान जन्य अलगाव के फलस्वरूप जीव जगत के निरन्तर बदलने वाले पदार्थ के साथ जुड़ने का प्रयत्न करता है, किन्तु शाश्वत तथा सनातन जीव जो कि सर्वव्यापी सनातन आत्मा का अंश है वह जगत की अनित्य वस्तु के साथ कोई स्थायी सम्बन्ध स्थिर नहीं कर पाता फलतः वह दुख तथा असफलता का अनुभव करता है इसलिये व्यक्ति अथवा जीव को विराट सर्वव्यापी आत्मा से तादात्म्य अनुभव करने के लिये केवल अर्न्तमुखी दृष्टिकोण को ही स्वीकारना पड़ेगा क्योंकि उसके अन्तरतम में ही आत्मा तथा जीव की इकाई स्थित है।

इसी प्रसग के अन्तर्गत विदुषी राजकुमारी ने राजकुमार से सम्यक चिन्तन, अभ्यास तथा श्री भगवान के प्रति निष्ठा एवं विश्वास में लगे रहने के लिए भी आग्रह किया, क्योंकि केवल परमात्मा के प्रति आत्म समर्पण की भावना से ही जीवन अपने सही स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। अतः आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु सम्यक् विवेक के साथ निरन्तर सम्यक् चिन्तन अभ्यास तथा सतत् परम के प्रति शरणागति की सतत् भावना को दृढ़ता पूर्वक निरन्तर बनाये रखा जाना जरुरी माना गया है।

राजकुमार हेमचूड़—हेमलेखा आख्यान के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मज्ञानोपलब्धि की यात्रा बड़ी कठिन है और इस साधना के दौरान में साधक को भिन्न-भिन्न स्तरों से ऊपर उठने में कभी-कभी बड़ी कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है। पूर्व वर्णित प्रारम्भिक तैयारियों के पश्चात् साधक में आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हेतु तीव्र उत्कंठा तथा लगन पैदा होती है और सतत् लगन में रहने के पश्चात् गुरु-बोध तथा गुरु के मार्ग-दर्शन के अनुसार चलकर अन्त में उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है।

आत्म-ज्ञान हेतु तीव्र सतत उत्कण्ठा का अनुभव कर गुरु साधक को 'मैं' तथा 'मेरा' का भेद स्पष्ट करता है तथा उसको बोध कराता है कि 'मैं' ही 'आत्मा' है जो सनातन तथा सर्वव्यापक है। तथा व्यक्ति जिसको 'मेरा' समझता है, वह निरन्तर परिवर्तनशील नाशवान तथा दुःख का कारण है। उपरोक्त अन्तर स्पष्ट करने के पश्चात् वह साधक को 'मैं' के अनुभव करने का आग्रह करता है।

तदनुसार राजकुमार ने कुछ समय के लिये एकान्तवास किया तथा उन्हें जो कुछ बोध दिया गया था, उस पर वह गंभीरतापूर्वक सतत् विचार एवं मनन करने लगे। साधना के इस स्तर पर उनको एकाएक शून्यावस्था का अनुभव होने लगा और धीरे-धीरे वह अंधकार में पड़ गये। इस स्तर पर राजकुमार ने जब 'मैं' अथवा 'आत्मा'

का चिन्तन करने का प्रयत्न किया तब वह आत्मा को स्वयं से पृथक् दृश्य विषय मान बैठे, जो कि भ्रान्त धारणा थी। उस समय तक राजकुमार हेमचूड़ का 'अहम् भाव' मौजूद था, जिसकी उपस्थिति के फलस्वरूप वह 'आत्मा' को स्वयं (मैं) से एक पृथक् दृश्य वस्तु अथवा विषय मान बैठने की भ्रान्ति में थे। अतः अहम् भाव की मौजूदगी के कारण उन्हें चिन्तन के दौरान में कतिपय स्वप्नमय स्थितियों का आभास होने लगा और छाया तथा प्रकाश के इन द्वन्द्वों में राजकुमार हेमचूड़ उलझनों के शिकार हो गये।

इस स्तर पर राजकुमार हेमचूड़ 'आत्मा' को आँख से देखने योग्य 'वस्तु' मानने की गलती कर रहे थे, क्योंकि आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह आत्मा की खोज अपने से बाहर करते थे मानो आत्मा कोई पृथक् वस्तु अथवा मानसिक स्थिति हो। यहाँ पर उनको यह बोध कराया जाना जरूरी था कि आत्मा (चैतन्य) ही सभी मानसिक वृत्तियों का आधार (द्रष्टा) है, जिस प्रकार सभी लहरों का आधार समुद्र है। अतः आत्मा की सही जानकारी बुद्धि तथा मानसिक वृत्तियों के टटोलने से होना असंभव है, जैसे कोई लहर समुद्र की स्थिति का ज्ञान कराने के लिये अपर्याप्त साधन है। लहर समुद्र को कैसे जान सकती है।

अतः इस प्रसंग पर विदुषी राजकुमारी ने सही समय उपस्थित हुआ है ऐसा जानकर हस्तक्षेप किया और राजकुमार को उसकी भ्रान्ति तथा उलझनों से उबारने की दृष्टि से उसको कुछ समय के लिये आत्मानुभव के 'प्रयत्न, को स्थगित किये जाने की सलाह दी इस प्रकार एक नया मार्गदर्शन दिया।

राजकुमार ने आत्मदर्शी प्रिया की सलाह को मान्यता देते हुए कुछ समय के लिये आत्म-चिन्तन के प्रयास को स्थगित कर दिया जिसके फलस्वरूप उनका सहज विकास होने लगा, और वह अधिक उच्चस्तरीय भूमिका पर पहुँच गये जहाँ उनको आनन्द की दिव्य अनुभूति होने लगी। किन्तु इस उच्चस्तरीय भूमिका पर भी राजकुमार भ्रान्ति-ग्रस्त हो गये और वह बार-बार उसी दिव्य अनुभूति को दोहराने के लालच में पड़ गये। राजकुमार इस स्तर पर आत्मा को भी मानसिक स्थिति ही समझ बैठे थे। क्योंकि अब तक वह अपने अहम् भाव को आत्मा में घुलामिला नहीं सके थे। अतः वह यह अनुभव नहीं कर सके कि केन्द्र तथा परिधि एक ही है। अहम् की मौजूदगी के फलस्वरूप राजकुमार को यह ज्ञान नहीं हो सका कि अन्दर की ओर अथवा बाहर की ओर होने वाला प्रवाह ही आत्मा है, तथा आत्मा के बहिर्मुखी प्रवाह के कारण ही ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी बनी हुई है तथा अन्तर्मुखी प्रवाह ही जाकर आत्मा में एकरस हो इकाई बन गया है। विदुषी राजकुमारी ने उनको समझाया कि बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी दोनों वृत्तियाँ चैतन्य के

सागर की लहरें हैं, जिसकी अनुभूति हेतु उनको अहम्भाव से सर्वथा मुक्त होकर केवल द्रष्टा (साक्षी) पर ध्यान देना चाहिये इस प्रकार केवल मात्र द्रष्टा (साक्षी) पर ध्यान केन्द्रित करने पर उसको आधारभूत सनातन शक्ति तथा उससे उठती हुई सभी वृत्तियों का अनुभव हुआ। इसी अभ्यास से उन्हें यह भी बोध हुआ कि सनातन शान्त आत्मा चैतन्य से ही सभी वृत्तियों का उद्भव-विलय व्यापार चल रहा है, तथा सभी स्थितियों में उपरोक्त अनुभूति को दोहराया जा सकता है, तथा आवश्यकतानुसार साधक एक वृत्ति से बच सकता है अथवा किसी एक वृत्ति के किसी अन्य वृत्ति में विलय को रोक सकता है। राजकुमारी ने वृत्ति के उद्भव-विलय तथा उसके योग्य नियंत्रण के बाबत भी उसको समझाया।

आत्म-ज्ञान के लिये वृत्तियों को अन्तर्मुखी किया जाना जरूरी है। वृत्तियों का आधार ही आत्मा है, जहाँ से इनका उदय-अस्त अथवा नियंत्रण होता है, इसलिये साधक को आत्मा में ही स्थित होने का परामर्श दिया जाता है ताकि वह आत्मा में स्थित होकर सभी स्तरों पर मानसिक वृत्तियों के सहज प्रवाह का अनुभव कर सके। साधक को बहिर्मुखी वृत्तियों को उनकी स्वभाविक दिशा में बहते रहने देना चाहिये, ताकि बाह्य वृत्तियाँ अपनी सहज तथा स्वाभाविक माँग की पूर्ति से निःसंस्कार होकर समाप्त हो सकें। क्योंकि आत्म-ज्ञान की उपलब्धि वृत्तियों के संकोच अथवा बाह्यीकरण क्रियाओं पर निर्भर नहीं है। आत्मा (चैतन्य) की स्थिति शाश्वत सनातन है, तथा सभी भेद, प्रकार तथा सम्बन्ध आत्मा में ही निहित है।

इस प्रकरण बिन्दु को राजा जनक उपाख्यान[1] के अन्तर्गत अधिक सुस्पष्ट किया गया है।

आत्म-ज्ञान साधन के प्रथम चरण में साधक को बाह्य वस्तुओं से मन को हटाने का आग्रह किया जाता है, इसके पश्चात् द्वितीय चरण में उसके समक्ष प्रतीत होने वाली विषय की वास्तविक स्थिति तथा उसके योग्य मूल्यांकन का बोध कराया जाता है, इसके बाद तृतीय चरण में उसको यह भान कराया जाता है कि दृश्यमय जगत् आत्मा (चैतन्य) की स्वतः रचना मात्र है, अतः दृश्यमान वस्तु को मृगतृष्णा अथवा भ्रम ही समझना चाहिये, और इसलिये इस धारणा को निकाल देना चाहिये कि दृश्यमान वस्तु में चैतन्य आत्मा के अलावा कोई स्वतंत्र सत्ता है। उपरोक्त तीनों चरणों का अभ्यास साधक की बुद्धि को परिपक्व तथा विकसित करने के लिये जरूरी माना गया है।

महर्षि तंगण के पुत्र द्वारा महाराजकुमार महासेन को भावना योग द्वारा

---

1 त्रिपुरा रहस्य : ज्ञानखण्ड अध्याय 17 (राजा जनक का आत्म-साक्षात्कार)

निर्मित 'शैल लोक दर्शन' आख्यान[1] के माध्यम से यह सुस्पष्ट किया गया है कि सृजन विचार के अन्तर्गत समय, सृष्टि तथा कल्पना के बीच क्या पारस्परिक सम्बन्ध है तथा शाश्वत सनातनता के गर्भ में किस प्रकार अनेक सृष्टियों का निर्माण-विलय होता रहता है, जिसका अनुभव आत्मा की तटस्थ वृत्ति से हो सकता है। यहाँ पर समझाया है कि द्रष्टा आत्मा ही तटस्थ भाव से प्रकृति-सृष्टि में होने वाले परिवर्तनों का अनुभव करता है।

इस प्रकार राजकुमार हेमचूड़ आत्म-ज्ञान सम्बन्धी सभी पहलुओं से दीक्षा द्वारा परिचय प्राप्त कर आत्मसाक्षात्कार कर सके और आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् वह अपने कर्तव्य-कर्म-व्यवहार में आत्मजाग्रत रहते हुए प्रवृत्त हो गये। उनके सभी कर्तव्य कर्म सहज और स्वाभाविक हो गये और वह एक मुक्त योगी की तरह सभी कार्य यथाविधि सम्पादित करने लगे। इस उच्चतम अवस्था में राजकुमार यद्यपि सांसरिक नित्यकर्म करते थे तथापि वह कर्मबन्धन से ऊपर उठ चुके थे, अतः वह संसार के सभी प्रपंचों से सर्वथा अलिप्त थे।

राजकुमारी हेमलेखा-हेमचूड़ संवाद त्रिपुरा रहस्य (ज्ञान खण्ड) के प्रथम दस अध्यायों में समाप्त होता है, इसके बाद के अध्यायों में कर्ममुक्त आत्मज्ञानी के जीवन के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। अतः राजकुमार हेमचूड़–हेमलेखा प्रसंग के पश्चात् पुस्तक की विषयवस्तु में परिवर्तन होता है। हेमचूड़ प्रसंग को भली-भाँति हृदयंगम करने के पश्चात् भी जिज्ञासु श्री परशुराम के हृदय में कतिपय प्रश्न उठ रहे थे, जिनके समाधान हेतु वह गुरुश्रेष्ठ भगवान दत्तात्रेय की सेवा में उपस्थित हुए, तथा उनसे आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् भी अनुभव होने वाले अन्तर्विरोधी स्थितियों का समाधान कराने की प्रार्थना की। आत्मसाक्षात्कार की स्थिति में यद्यपि अहम् भाव नष्ट हो जाता है, तथापि उसको एकमात्र आत्मा की अनुभूति की स्थिति पर स्थिर रहने के लिए विशेष प्रकार के गुरुबोध की आवश्यकता अनुभव होती है, क्योंकि साधक यदाकदा अन्तर्विरोधी स्थितियों का अनुभव करने के फलस्वरूप उलझनों में पड़ जाता है। आत्मज्ञानोपलब्धि के पश्चात् वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाये रखने की जरूरत नहीं रहती, फिर भी आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् अनुभवों का अर्थ सही ढंग से समझने के लिए समय-समय पर गुरुबोध की मदद लेने की आवश्यकता निसन्देह बनी रहती है।

दयालु आदि गुरु भगवान दत्तात्रेय ने अपने प्रिय शिष्य श्री परशुराम की उपरोक्त माँग को स्वीकार करते हुए अष्टावक्र आख्यान[2] के माध्यम से श्री परशुराम

---

1 त्रिपुरा रहस्य : ज्ञानखण्ड 12-14 शैल-लोक दर्शन।

2 त्रिपुरा रहस्य : ज्ञान खण्ड अध्याय १५-१७

की शंकाओं का समाधान करते हुए उनको समझाया कि किस प्रकार बौद्धिक स्तर पर आत्मज्ञानोपलब्धि से साधक प्रमाद, अहंकार तथा झूठी सन्तुष्टि से ग्रस्त हो जाता है। आत्मज्ञान की साधना-यात्रा के मार्ग में अहंकार अभिमान तथा भ्रमित सन्तुष्टि सबसे बड़े खड्ढे हैं, जिनमें यदि साधक गिर जाय तो वह अपना बड़ा अहित कर बैठता है और इसलिये इन भयावह स्थितियों से बचत के लिये उसको सतत गुरु के साथ रहकर साधना-रत रहना चाहिये ताकि गुरु यात्रा-पथ में उपस्थित होने वाले संकटों से साधक को सावधान करता रहे, अथवा पदच्युत साधक के विपद्ग्रस्त होने पर तुरन्त उसका उद्धार किया जा सके। अतः आत्मज्ञान के पथ पर आगे बढ़ने के लिए साधक के लिये सतत गुरु सान्निध्य तथा उसका स्नेहपूर्ण मार्गदर्शन अनिवार्य आवश्यक माना गया है। पुस्तक के अन्त में एक अन्य समान कथा[1] के द्वारा इस विषय बिन्दु को अधिक स्पष्ट रूप से समझाया गया है, जिसमें साधक को पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ विनम्र व्यवहार करने तथा सदैव परमशक्ति के प्रति शरणागत भाव को बनाये रखने का परामर्श दिया गया है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भी साधना-यात्रा में अग्रसर होने वाले साधक को एक अन्य खतरे से भी सावधान रहने के लिए आग्रह किया गया है। त्रिपुरा-रहस्य, ज्ञान खण्ड के सोलहवें अध्याय का शीर्षक है "क्या प्रगाढ़ निद्रा का अर्थ ब्रह्म साक्षात्कार है?" कभी-कभी साधक प्रगाढ़-निद्रा को ही ब्रह्म समाधि मान बैठने की भ्रान्ति कर बैठता है। उसको इस भ्रान्ति से उबारने हेतु इस अध्याय में पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक में यह प्रश्न अष्टावक्र की शंका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अष्टावक्र द्वारा उठायी गयी यह शंका स्वाभाविक प्रतीत होती है क्योंकि आत्म चैतन्य की अनुभूति के दौरान सभी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, और प्रगाढ़ निद्रा के दौरान में भी यह सभी वृत्तियाँ लय हो जाती हैं अतः आत्मलीनता की समाधि तथा प्रगाढ़ निद्रा की बेसुधी को एक सा समझ लेना स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसलिये अष्टावक्र के प्रश्न को सहज स्वाभाविक एवं तर्कसंगत कहा जा सकता है क्योंकि समाधि तथा प्रगाढ़ सुषुप्ति (निद्रा) समान प्रतीत होती है। किन्तु समाधि तथा प्रगाढ़ निद्रा में एक उल्लेखनीय अन्तर भी है, जिसपर ध्यान दिया जाना जरूरी है और यह महत्वपूर्ण अन्तर है साधक को अज्ञान का अनुभव। आत्म तल्लीनता तथा समाधि के दौरान में साधक का आत्मभाव जाग्रत रहता है कि वह आत्म-चैतन्य समाधिरत है तथा आत्मा को अपने चैतन्यत्व का अभिज्ञान रहता है, किन्तु प्रगाढ़ निद्रा के अन्तर्गत व्यक्ति बेसुध हो जाता है

---

1 त्रिपुरा रहस्य : ज्ञान खण्ड अध्याय ३१ (ब्रहन राक्षस उपाख्यान)

और उसको वह कुछ भी भान नहीं हो सकता कि वह कौन है, कहाँ है तथा क्या है। समाधि के अन्तर्गत आत्मा को एकरसता का अनुभव होता है अतः इसको जाग्रत सुषुप्ति कहा जा सकता है किन्तु प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) अचेतनावस्था तथा अज्ञानावस्था है।

यद्यपि आत्मलीन समाधि तथा प्रगाढ़ निद्रा का विषयी एक ही आत्मा है जो उपरोक्त स्थितियों में निरन्तर मौजूद रहता है तथापि इन दोनों स्थितियों को समान मान लेना बड़ी भूल है क्योंकि समाधि के दौरान में आत्मा अभिज्ञान सम्पन्न चैतन्य है जबकि प्रगाढ़ निद्रा के दौरान में आत्मा अहम् तथा स्मृति की मौजूदगी के कारण अज्ञान तथा उलझन ग्रस्त रहता है। गुरु श्रेष्ठ भगवान दत्तात्रेय ने उपरोक्त दोनों स्थितियों का अन्तर आत्म जाग्रति अभिज्ञता की कसौटी के द्वारा 'अष्टावक्र-आख्यान' के माध्यम से स्पष्ट किया है। अतः आत्मलीन समाधि तथा प्रगाढ़ निद्रा अवस्था को एक सा मान लेना एक भयंकर भूल हैं। जिसको बड़े विस्तार से सुस्पष्ट किया गया है। आत्मरति समाधि में विशाल असीम क्षेत्र से एक रसता का अनुभव करता है जबकि सुषुप्ति के अन्तर्गत द्रष्टा सीमित क्षेत्र-बन्धन में एकता का अनुभव करता है।

प्रगाढ़ निद्रा स्थिति की उपयुक्त व्याख्या पाश्चात्य मनोविज्ञान के लिये एक नवीन अनुसधान का विषय है। भारतीय विचार के अन्तर्गत आत्मज्ञान के सन्दर्भ में जाग्रतावस्था में कोई मौलिक अ तर नहीं है क्योंकि दोनों स्थितियों का द्रष्टा विषयी 'आत्मा' माना गया है। अतः आत्मा (चैतन्य) को उसके द्वारा आलोकित वस्तुओं के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता अलबत्ता दृश्यमान वस्तुओं के संदर्भ में केवलमात्र 'अहम्' की व्याख्या हो सकती है। आत्मज्ञानोपलब्धि के पश्चात् जब साधक इस ज्ञान को व्यवहार में उपयोग करने हेतु प्रवृत्त होता है तब उसको गुरु के सान्निध्य तथा सतत् गुरु के मार्गदर्शन की अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव होता है। ज्ञान को व्यवहार मे लाना अत्यन्त कठिन कार्य है जिसको गुरु-सान्निध्य अथवा उसकी देखरेख के बिना कार्यान्वित किया जाना असंभव है। अतः इस नाजुक घड़ी में साधन-पथ पर अग्रसर होने के लिये गुरु-सान्निध्य की महिमा को भारतीय विचारधारा के अन्तर्गत अधिक महत्व दिया गया है।

आत्मज्ञान के पश्चात् भी साधक के लिये अपने अहम् जनित पुराने स्वभाव से ऊपर उठना कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि अब तक वह वर्षों से अहम् से ग्रसित रहा है और इसलिये चिन्तन तथा व्यवहार के क्षेत्र में वह पुराने स्वभाव तथा संस्कारों से स्वतः ऊपर उठने में अपनी असमर्थता का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में साधक केवल गुरु-सान्निध्य तथा उसकी स्नेहमयी सहायता से ही स्वतः

ऊपर उठ सकता है। एक लम्बे समय से मानव निरन्तर अहम्-ग्रसित रहा है, अतः उसके सोचने तथा क्रिया करने के तरीके भी स्वभावतः अहम् से प्रभावित रहते हैं प्रायः व्यक्ति स्वयं को "श्री फला" के नाम रूप से ही पहिचानता और इसलिये स्वयं को भी वह इसी संदर्भ में स्वीकार कर लेता है। फलतः यह अहम् उसका स्वभाव बन जाता है। प्रगाढ़ निद्रा की स्थिति में जब सभी सम्बन्ध अनुपस्थित रहते हैं तब वह यह मान बैठता है कि 'कुछ नहीं है' किन्तु वस्तुतः यह उसके अज्ञान का प्रक्षेपण है। अज्ञान के प्रक्षेपण के फलस्वरूप उसकी संज्ञा शून्य हो जाती है। इस नाजुक घड़ी में इस अज्ञान के अंधकार से बाहर निकलने के लिये साधक को गुरु के सहयोग की बड़ी जरूरत रहती है। गुरु अपने सम्यक बोध द्वारा साधक को उलझनों, शकाओं तथा अज्ञानजन्य अन्धकार से मुक्त करता है और उसको आत्म-जाग्रति की सम्पदा से अलंकृत करते हुए उसको परम चैतन्य से साक्षात्कार कराता है। त्रिपुरा रहस्य ज्ञान खण्ड में इस विषय वस्तु को कतिपय प्रसंगों द्वारा आग्रह के साथ सुस्पष्ट किया गया है।

राजा जनक के आत्मसाक्षात्कार के कथानक[1] के माध्यम से आत्म साक्षात्कार का अर्थ सुस्पष्ट किया गया है। राजा जनक ने अपने अनुभवों का विवरण प्रस्तुत करते हुये समझाया कि किस प्रकार वह समाधि अवस्था तक पहुँचे तथा उनका अहम् केन्द्रस्थ आत्मा में घुलमिल गया, तथा इसके बाद एक क्षण के लिये वह संकोच तथा शंका में पड़ गये तथा पुनः जब वह आत्म तल्लीनतापूर्ण आनन्द की पूर्ववत स्थिति को प्राप्त करने हेतु प्रवृत्त हुये तब तत्काल उन्हें आत्मा की सर्व-व्यापकता का दिव्य अनुभव हुआ।

सर्वत्र आत्मा की व्यापकता का अनुभव कर राजर्षि जनक को भी आश्चर्य हुआ और वह प्रश्न कर बैठे कि किस प्रकार असीम चैतन्य को आंशिक क्रिया अर्थात् खंडीय वृत्ति द्वारा समझा जा सकता है? शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन सभी स्वप्नवत भ्रामक हैं, फिर भी इन सबका सम्बन्ध, अखण्ड 'मैं' आत्मा तथा समजातीय चैतन्य से निरन्तर बना रहता है। ऐसी परिस्थिति में असंख्य मन में से यदि एकाध मन को हटा दिया जाय तो उससे परम चैतन्य में क्या फर्क पड़ सकता है? क्या एक मन को पृथक कर लेने मात्र से अवशेष असंख्य मन का सम्बन्ध उस चैतन्य आत्मा से अलग हो जायगा? चैतन्य द्वारा ही सभी मन आलोकित होते हैं चाहे वह पृथक किये गये हों अथवा संयुक्त रहे हों। राजा जनक ने यह भी विचार किया कि उपरोक्त स्थितियों में उन्हें एकाध मन के अलगाव की

---

[1] त्रिपुरा रहस्य : ज्ञान खण्ड अध्याय 17

झंझट में नहीं पड़ना चाहिये। जब आत्मा का स्वरूप ही 'सर्वव्यापकता' है तब उससे मन को हटाने अथवा नियंत्रित किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः सभी मन के समाधिग्रस्त हो जाने की स्थिति में भी आत्मा की सर्वव्यापकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी अध्याय के अन्तर्गत श्री परशुराम द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों के समाधान के माध्यम से आत्मा सम्बन्धी मूलभूत मनोवैज्ञानिक स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। भगवान श्री दत्तात्रेय की शिक्षा का सारांश यही है कि चैतन्य का ही एकमात्र अस्तित्व है जो 'क्रियाशक्ति' है। अतः सृजन तथा क्रिया को चैतन्य से अलग सोचा ही नहीं जा सकता तथा अनुभवकर्ता (ज्ञाता) तथा अनुभव (ज्ञान) का भेद भी चैतन्य में ही निहित है। इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया गया है कि मनन तथा अनुचिन्तन के दौरान में सम्बन्ध-क्रिया (अर्थात् अनुभव तथा ज्ञान, जिनको चैतन्य का प्रकार कहा गया है) की प्रायः उपेक्षा की जाती है, इसलिये अनुचिन्तन के कारण विषयी (द्रष्टा) तथा विषय (दृश्य) का द्वैत भाव उत्पन्न होता है। जबकि स्वप्न में द्रष्टा तथा दृश्य का कोई भेद नहीं रहता। स्वप्न के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं है कि स्वप्न की दृश्यावली मन की करतूत है, और सभी स्वप्न की तसवीरें मन में ही घुल मिल जाती हैं। स्वप्नावस्था व्यतीत हो जाने के बाद कोई वस्तु अवशेष ही नहीं रहती। किन्तु जाग्रत अवस्था का अनुभव अन्य प्रकार का रहता है। जाग्रत अवस्था के अनुभव में दृश्यगत की स्थिति पूर्ववत बनी रहती है। जाग्रति में द्रष्टा आत्मा प्रायः अहम्ग्रस्त रहता है। आत्म चैतन्य की दृष्टि से तो स्वप्नावस्था तथा जाग्रतावस्था की स्थितियों में कोई अन्तर नहीं है, उपरोक्त दोनों स्थितियाँ आत्मा की दृष्टि से समान रूप से वास्तविक अथवा अवास्तविक हैं। यदि किसी ने यह अनुभव कर लिया है कि उसकी आत्मा ही पूर्व चैतन्य है तो उसको 'मुक्त' समझा जाना चाहिये क्योंकि उसका सतत् सम्बन्ध आधारभूत आत्मा से है। अतः ऐसी स्थिति में वह किसी भेद अथवा अन्तर का अनुभव नहीं करता, क्योंकि चैतन्यमय आत्मा से ही सभी प्रकाशित हैं। पूर्ण आत्मज्ञानी ही मुक्त पुरुष है तथा उसको सतत् ध्यान रहता है कि वह आत्म चैतन्य है तथा वह स्वयं केवल आत्मा है जो पूर्णरूप से चैतन्य है। इस श्रेणी के सिद्ध अथवा मुक्त पुरुषों के बाह्य आचरण में विरोधाभास अथवा अन्तर देखा जा सकता है किन्तु मूलतः आन्तरिक दृष्टि से उनमें कोई भेद अथवा अन्तर नहीं रहता। सिद्ध अथवा मुक्त पुरुष का समस्त जीवन केवल मात्र आत्मा रूप है अथवा आत्मचैतन्य की अभिव्यक्ति है।

आत्मज्ञान की साधना-यात्रा की इस भूमिका पर पहुँचने के बावजूद भी श्री परशुराम यह नहीं समझ सके कि किस प्रकार दृश्यमान वस्तुगत तथा आत्म-

चैतन्य का उपादान एक ही है। इस स्तर तक श्री परशुराम अहम् संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके थे। फलतः उन्हें जाग्रत अवस्था के दृश्यमान जगत की वस्तुओं की वास्तविकता स्वप्न तथा कल्पना जनित दृश्यों की अपेक्षा अधिक स्थायी तथा प्रभावशाली प्रतीत होती थी। इस समस्या—प्रश्न के समाधान के दौरान में उनको यह समझाया गया कि स्वप्नावस्था में दीखने वाली वस्तु भी जाग्रतावस्था में दिखने वाली वस्तु के समान ही वास्तविक एवं प्रभावकारी है। कोई भी वस्तु जिसका स्वप्न में अनुभव किया गया है, केवल मात्र स्वप्न में दृष्टिगोचर होन के कारण नष्ट नहीं हो जाती। किन्तु स्वप्न देखने वाले मन के अभाव में इन वस्तुओं की स्वतंत्र स्थिति को समझा ही नहीं जा सकता। इस प्रकार यहाँ पर भी मन के द्वारा ही ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी रहती है, और मन के अभाव में किसी भी वस्तु की स्वतंत्र सत्ता को अनुभव ही नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वस्तु की सत्ता के सम्बन्ध में स्वप्न तथा जाग्रति के अनुभवों में कोई अन्तर नहीं है, फिर भी प्रायः यह मान लिया जाता है कि जाग्रत अवस्था में दिखने वाली वस्तु की सत्त मन पर निर्भर नहीं है, और इसलिये जाग्रति में दिखने वाली वस्तु को स्वप्न में दृष्टिगोचर होने वाली वस्तु की अपेक्षा अधिक स्थायी तथा वास्तविक मान लिया जाता है। लेखक ने इस महत्वपूर्ण बिन्दु को सुस्पष्ट करते हुए समझाया है कि स्वप्नावस्था में व्यक्ति जाग्रत नहीं रहता और जागता हुआ व्यक्ति सपना नहीं देखता। इस प्रकार स्वप्न जगत तथा जाग्रत जगत में से प्रत्येक सृष्टि अपने-अपने स्थान पर समान रूप से वास्तविक तथा प्रभावशाली है। किन्तु फिर भी पूर्वाग्रहों तथा पुराने विश्वासों के कारण स्वप्न के अनुभव को जाग्रत अनुभव के समान अथवा समकक्ष स्वीकार नहीं किया जाता। इसलिये यदि अनुभवातीत चैतन्य के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो जाग्रत अवस्था का अनुभव भी स्वप्न अनुभव के सदृश ही भ्रान्तिजन्य है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण दृश्यमान विषय जाग्रत चैतन्य के दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप नजर आता है। एक सामान्य दर्पण में प्रतिबिम्ब के लिये बाह्य वस्तु की जरूरत रहती है किन्तु चैतन्य के दर्पण में आत्मा के असंख्य प्रतिबिम्ब स्वतः दृष्टिगोचर होते हैं।

इस परम चैतन्य को यहाँ पर भगवती त्रिपुरा कहा गया है। यद्यपि भिन्न-भिन्न ऋषियों ने उसको अलग-अलग संज्ञा से पुकारा है। किसी ने इसको 'ज्योति-सूर्य' 'विशुद्ध चेतना' 'कभी भी अस्त नहीं होने वाली आत्मा' तथा 'सनातन ज्योति' कहा है जिसको किसी के भी द्वारा आच्छादित अथवा छिपाया ही नहीं जा सकता। इस दृष्टिकोण से परम चैतन्य के बन्धन अथवा मुक्ति का विचार ही गलत धारणा है। अस्थायी प्रकार से अहम्, चेतना, मन आदि को भेद का उपकरण माना गया है, किन्तु

मन भी प्रकृति से चैतन्य है, मन की क्रिया भी चैतन्य है अतः द्रष्टा के दृष्टिकोण से सभी भेद केवल अस्थायी ठहरते हैं। अतः यदि मन को वास्तविक मान लिया जाता है तब किसी बन्धन की सत्ता को स्वीकार करना मात्र ही स्वतः सबसे बड़ा बन्धन माना जाना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विषयी (द्रष्टा) तथा विषय (वस्तु) का द्वैत केवल सत ही तथा आभासी है। जिस प्रकार स्वप्न से जागने के बाद सम्पूर्ण स्वप्नमय चित्र नष्ट हो जाते हैं तथा उनका कोई अंश अथवा चिह्न अवशेष नहीं रहता उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में आत्मसाक्षात्कार के अनुभव के पश्चात् सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत आत्मचैतन्य में घुलमिल जाते हैं, तथा उसका आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है अतः बाह्य जगत की कोई वस्तु बाकी नहीं रहती। इसका अर्थ यही है कि जीवन के नाट्य-मन्दिर में जिन परस्पर विरोधी वृत्तियों का खेल हो रहा है, वह स्वतः तथा स्वाभाविक है। चैतन्य सहज तथा स्वतः क्रिया है और इनको इसी प्रकार घटित होना ही चाहिये। इन सभी क्रिया-वृत्तियों के मूल आधार आत्मा को अनुभव करने के लिये वृत्तियों को अन्तर्मुखी करते हुए आत्मकेन्द्रस्थ किया जाना आवश्यक है। आत्मा ही स्वप्रामाण्य प्रमाणित तथा स्वयं आलोकित चैतन्य है और केवल आत्मा की ही स्थिति तथा अस्तित्व है और एक पूर्ण आत्मा में स्थायित्व तथा गत्यात्मक-दोनों स्थितियाँ निहित हैं। इसलिये आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये साधक को बाहर रहकर नहीं देखना चाहिये अपितु उसको आत्मा के साथ तादात्म्य (एकीभूत) होकर यह अनुभव करना चाहिये कि वह आत्मचैतन्य से एकरस हो गया है और सर्वत्र भीतर-बाहर केवल मात्र आत्मा की ही स्थिति तथा अस्तित्व है। इस प्रकार के अनुभव की भूमिका स्तर पर पहुँच जाने के बाद उसके द्वारा इस समग्र दृश्यमान जगत को समझने का पक्ष ही बदल जायगा और तब वह यह अनुभव करेगा कि सम्पूर्ण दृश्यमान एकमात्र चैतन्य की लीला है, जहाँ पर सृजनात्मक अन्तर्मुखी एवं बाह्यमुखी प्रवृत्तियों द्वारा स्वतः लीला, स्थिरता, गति और परिवर्तन के त्रिताल से युक्त नृत्य क्रिया में प्रवृत्त है। इस उच्च स्तरीय भावना-भूमिका के सम्यक अनुभव के लिये साधक को आत्मकेन्द्रित रहकर परिधि पर घटित इस लीला नृत्य को उसकी सभी खूबियों के साथ समझना चाहिये।

उपरोक्त दृष्टिकोण के प्रसंगाधीन पुस्तक में मुक्त आत्मा के व्यवहार-वैषम्य के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथा मनोरंजक प्रश्न उठाया गया है कि जब सभी मुक्त पुरुषों को समान रूप से आत्मानुभूति हो चुकी है तब इनके जीवन-व्यवहार तथा आचरण-वर्तन में भेद अथवा भिन्नत्व पाया जाना किस प्रकार संभव है।

उपरोक्त प्रश्न का विवेचन करते हुए भगवान दत्तात्रेय ने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि सभी मुक्त पुरुष समान प्रकार से आत्मसाक्षात्कार का अनुभव करते हुए भी वे अपने व्यवहार और आचरण में भिन्नता तथा अन्तर रखते नजर आ सकते हैं। इस बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए गुरु दत्तात्रेय स्वय का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि वह तथा उनका सहोदर भाई दोनों समान प्रकार से आत्म साक्षात्कार सम्पन्न मुक्त आत्मायें हैं, फिर भी इन दोनों भाइयों के जीवन-व्यवहार तथा आचरण में बड़ा अन्तर है। श्री दत्तात्रेय तो मुक्त पुरुष की तरह संसार से अलग एकाकी अलिप्त योगी का जीवन यापन करते हैं, किन्तु उनका सहोदर भाई चन्द्र मुक्त होने के बावजूद भी वह संसार में भोग और ऐश्वर्य युक्त जीवन में व्यस्त रहता है। भगवान दत्तात्रेय की मान्यता है कि आत्मज्ञानी के जीवन-व्यवहार के भेद के निम्न तीन कारण होते हैं यथा :—(१)बुद्धि (२) साधना-अनुशासन तथा (३) संस्कार। अतः इन तीन कारकों के फलस्वरूप मुक्त आत्मज्ञानियों के जीवन-व्यवहार में भेद अथवा अन्तर देखा जा सकता है।

आत्मसाक्षात्कार की अन्तिम स्थिति की प्राप्ति के दौरान में साधक के पूर्व कर्म तथा वृत्तियाँ कभी-कभी बाधायें अथवा अड़चनें डालती रहती हैं, अतः साधक को परम चैतन्य पर आधारित पूर्व कर्म एवं संस्कारों की धूल को हटाना पड़ता है। इस प्रकार की वृत्तियों के फलस्वरूप मन की अपवित्रता तथा कर्म एवं इच्छाओं के लिये आशा—जब तक साधक अपने इन तीन संस्कारों को साधना द्वारा दूर नहीं कर देता तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता तथा वह अपने अन्दर परम चैतन्य के आलोक का अनुभव नहीं कर सकता। जब साधक उपरोक्त पूर्व संस्कारों तथा वर्तमान एवं भविष्य की फलाशा से स्वतंत्र तथा मुक्त हो जाता है, तब उसका रूपान्तरण हो जाता है और उसके दृष्टिकोण में सहज ही परिवर्तन हो जाता है। और यह रूपान्तरण अथवा कायाकल्प कोई बाह्य तबदीली अथवा परिवर्तन नहीं है अपितु यहाँ पर आन्तरिक रूपान्तरण हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार के स्वतः प्रकाश से साधक स्वतः आलोकित हो जाता है। ऐसी परम स्थिति की प्राप्ति के दौरान में वह मुक्त आत्मा अपने स्वभाव तथा चरित्र के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्तन-व्यवहार कर सकता है किन्तु एक मुक्त आत्मज्ञानी के लिये उसके इस व्यवहार-आचरण का महत्व ही बदल जाता है। वह चैतन्य के साथ एक होकर इस लीलामय संसार में भिन्न जगत व्यवहार करता हुआ भी उस शाश्वत का एक अभेद अंश बना रहता है।

"त्रिपुरा रहस्य" के अन्तर्गत ज्ञानियों की तीन श्रेणियाँ बतलायी गई हैं :—
(१) वह ज्ञानी जिनके असख्य 'मन' हैं, (२) वह ज्ञानी जिनका कोई मन' ही

नहीं है, तथा (३) वह ज्ञानी जिनका केवल एक 'मन' है। इसमें से प्रथम दो श्रेणी के ज्ञानी अपने जीवन काल के दौरान में ज्ञान-सम्पन्न तथा मुक्त रहते हैं, किन्तु तीसरी श्रेणी का ज्ञानी केवल मृत्यु के पश्चात् ही मुक्त होता है।

प्रथम श्रेणी के ज्ञानी अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न होते हैं। वे अपनी प्रतिभा की अग्नि को जलाने तथा पूर्व जीवन के संस्कारों के कारण उत्पन्न सभी बाधाओं को हटाने में सक्षम होते हैं। वे ज्ञान तथा प्रतिभा से सम्पन्न होते हैं अतः उनके लिये किसी प्रकार की साधना अथवा अनुशासन पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इस श्रेणी के ज्ञानी मुक्त पुरुषों की स्वाभाविक इच्छायें तथा एषणायें दग्ध नहीं हो पातीं, अतः आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् भी इनकी इच्छायें एषणायें सहज प्रकार से उभरती रहती हैं किन्तु उक्त इच्छाओं, वृत्तियों से उनके ज्ञानमय प्रकाश में किसी प्रकार की बाधा अथवा रुकावट पैदा नहीं होती। इस श्रेणी के मुक्त पुरुषों में ज्योंही कर्म संस्कारों का उदय होता है त्यों ही वे ज्ञानाग्नि द्वारा उनको तत्काल दग्ध कर देते हैं। इसलिये इस प्रकार के मुक्त पुरुष इच्छा अधीन होकर जीवन के नानाविध अनुभवों की ओर प्रवृत्त होते हैं किन्तु आत्म साक्षात्कार की ज्ञानानुभूति के फलस्वरूप यह कर्म के प्रभाव से निरन्तर अप्रभावित रहते हैं और वह कर्म संस्कारों के बन्धन में नहीं पड़ते वे सम्पूर्ण जीवन प्रारब्ध कर्मों का भोग करते हुये निरन्तर ज्ञान के प्रकाश में लीन रहते हैं। आन्तरिक दृष्टि से उनकी जीवन क्रियाएँ स्वप्न समान दृष्टिगोचर होती हैं। बाहरी नजर से उनका व्यवहार आचरण सामान्य व्यक्ति जैसा प्रतीत होता है, किन्तु गहराई में वह सभी कर्मों से अलिप्त रहते हैं। वह पूर्व कर्म संस्कारों से अबन्धित रहता है इसलिये इस प्रथम श्रेणी के ज्ञानी के जीवन व्यवहार आचरण में विविधता का दर्शन होते हैं। राजा जनक आत्म ज्ञानी थे किन्तु वह सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त राज्य कार्य करते रहे। आत्म ज्ञानी वशिष्ठ जी भी पुरोहित बनकर आजीवन कर्मकाण्ड आदि अनुष्ठानों में लगे रहे, और आत्मज्ञानी दुर्वासा ऋषि को सर्वत्र महाक्रोधी के रूप में वर्णित किया गया है। अतः उपरोक्त श्रेणी के मुक्त पुरुष 'असंख्य मन' की सम्पदा से मंडित होने के फलस्वरूप संसार की नानाविधि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हुए भी सदैव आत्मानुभव की स्थिति में बने रहते हैं।

द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत उन ऋषियों तथा साधकों को लिया गया है, जिनका अधिकांश जीवन पूर्व सस्कार और वृत्तियों को अनुशासन में रखने में व्यतीत हुआ हो। इस प्रकार के साधकों को भी आत्मज्ञान तथा आत्मसाक्षात्कार की उपलब्धि होती है, किन्तु फिर भी इन पर पुराने कर्म संस्कारों की छाया बनी रहती है। अतः इनका क्रिया क्षेत्र सीमित रहता है, और प्रायः इनका जीवन बाधाओं के निराकरण में ही लगा रहता है। अतः इस श्रेणी के मुक्त पुरुष कभी-कभी ज्ञान के प्रकाश में

जीते हैं और प्रायः संसार के सुख दुःख का अनुभव करते रहते हैं। कभी-कभी इस श्रेणी के पुरुष इस संसार की झंझावात में खोये हुए से नजर आते हैं किन्तु वस्तुतः आत्मज्ञानी इन हलचलों से अप्रभावित रहता है और उनके जीवन का काला अन्धियारा अन्ततोगत्वा ज्ञान से प्रकाशित हो जाता है जिसके फलस्वरूप अंधकार-पूर्ण जीवन के कर्म संस्कार भस्म हो जाते हैं और वह अन्त में मुक्त हो जाता है। इस श्रेणी के सत के कर्म संस्कार अन्त में जाकर दग्ध हो जाते हैं। अतः उसका सामान्य आचरण पागलों सरीखा दिखता है। वामदेव तथा जड् भरत इस श्रेणी के उदाहरण हैं। इस श्रेणी के संत प्रायः जंगलों में और सुनसान बीहड़ों में खोये-खोये से रहते हैं और यदाकदा ही उनको जीवन की यथार्थता का अनुभव होता है।

अन्तिम अर्थात् तृतीय श्रेणी के ज्ञानी का मन एक ही कार्य में प्रवृत्त रहता है, जिन्हें 'एक मुनी' ज्ञानी कहा जाता है। वह ज्ञानी सत्य को समझने वाला होता है, किन्तु उसको सामान्य व्यक्तियों के समान जीवन में सुख दुःख आदि का अनुभव होता है, इस तृतीय श्रेणी के ज्ञानी को मृत्यु के पश्चात् ही मोक्ष अथवा मुक्ति की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मसाक्षात्कार का अर्थ मानव द्वारा अपनी अन्तर्निहित आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना है और इस प्रकार आत्मा के साथ एक रस हो जाने से वह सम्पूर्ण विश्व के साथ जुट कर एक हो जाता है। आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति का प्रथम चरण तत्वमसि (तू ही वह है) की भावना है जिसकी स्वतः परिणति द्वितीय चरण में जाकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (अर्थात यह सब सर्वत्र केवल मात्र ब्रह्म ही है) में हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य की एक सफेद किरण सात रंग में विभाजित हो जाती है, उसी प्रकार अहम् के कारण चैतन्य की पूर्ण ज्योति जगत की विविधता में परिलक्षित की जा सकती है।

अन्त में त्रिपुरा रहस्य (ज्ञानखण्ड) में यह स्पष्ट किया गया है कि वस्तुतः केवल विशुद्ध चैतन्य ही सत्य है और केवल मात्र उसी की स्थिति है। यहाँ पर इसको 'भगवती त्रिपुरा' कहा गया है। इसी सत्य शक्ति को विष्णु शिव आदि विभिन्न नामों से भी पुकारा जाता है। वस्तुतः इस विश्व में भगवती त्रिपुरा सुन्दरी सनातन से भगवान शिव के साथ स्थित हैं। यह समूचा संसार केवल मात्र उसकी ही अभिव्यक्ति है। त्रिपुरा ही दर्पण है जिसमें सम्पूर्ण विश्व तथा जीवात्मा प्रतिबिम्बित होते हैं। भगवती त्रिपुरा पूर्ण स्वतंत्र सृजनशक्ति है और यह केवल आनन्द और कौतुक हेतु सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करती है। भगवती त्रिपुरा ही अपने मायावी ताने-बाने से इस विश्व की रचना करती है और जीवात्मा को भ्रम में डालती है। उसके द्वारा ही बन्धन के कारण बनते हैं, जिनसे गुरु के मार्गदर्शन तथा सानिध्य से साधक मुक्ति हेतु प्रयत्न कर सकता है। इस प्रकार भगवती

त्रिपुरा के द्वारा कौतुक की तरह इस विराट विश्व के रंग मंच का निर्माण होता रहता है। यदि विशुद्ध चैतन्य को दृष्टि से देखा जाय तो जहाँ सर्वत्र जीवात्मा एवं ब्रह्म को इकाई का अनुभव है वहाँ पर न कहीं सृष्टि है, और न कहीं विनाश है, न कहीं बन्धन है और न कहीं मुक्ति है। इस दृष्टिकोण से तो सर्वत्र असीम शान्त समुद्र है जहाँ पर पानी की हजारों लहरें उठती बैठती रहती हैं। किन्तु यदि जगत को बाह्य दृष्टि से देखा जाय तब जीवात्मा और ब्रह्म का भेद नजर आयगा, और ऐसी स्थिति में बन्धन तथा उससे मुक्त होने के लिये प्रयत्न भी समझ में आ सकेगा। अतः आत्मसाक्षात्कार की स्थिति उपलब्ध करने पर यह सम्पूर्ण जगत आत्मा में घुलमिल कर एक हो जायगा, और जीवात्मा संसार चक्र से सर्वथा मुक्त हो सकेगा। आत्मसाक्षात्कार से ही द्वैतभाव तिरोहित हो जाता है और व्यक्ति आत्मलीन होकर आत्मा और ब्रह्म की अन्तिम इकाई को अनुभव कर सकता है।

इसलिये इस जगत (विश्व) से भागने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि यह विश्व भी मूलतः चैतन्य प्रकाश अथवा भगवती त्रिपुरा से भिन्न नहीं है। अतः इस ससार से पृथक् होने के प्रयत्न में कोई सार नहीं है, क्योंकि सर्व व्यापक भगवती त्रिपुरा से पृथक् कोई स्थिति ही नहीं है, अतः मुक्ति अथवा मोक्ष के लिये सभी संघर्षों तथा प्रयत्नों का कोई महत्व ही नहीं है। भगवती त्रिपुराकी सत्ता ही सर्वत्र व्यापक है, जिसमें भिन्नत्व बन्धन अथवा मुक्ति का कोई स्थान ही नहीं है। क्योंकि भगवती त्रिपुरा के आन्तरिक एकत्व में खण्डत्व, पृथकत्व अथवा भिन्नत्व की कोई अलग सत्ता अथवा स्थिति ही नहीं है, सभी पृथकत्व, भिन्नत्व भगवती त्रिपुरा की सर्वव्यापी सृजन शक्ति में ही निहित होकर पूर्ण एकत्व की ही स्थिति सत्ता है।

इसी विषय बिन्दु को त्रिपुरा रहस्य (ज्ञान खण्ड) के अन्तिम अध्याय में आग्रह के साथ सुस्पष्ट किया गया है[1] । इस अध्याय में श्री वासुमान प्रश्न करते हैं कि किस प्रकार ज्ञानी ससार में व्यस्त रहते हुए भी अप्रभावित रह सकता है? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए राजकुमार समझाते हैं कि यद्यपि आकाश नीला नहीं है, फिर भी सभी लोग इसको नीला आकाश ही कहते हैं और इस प्रकार आकाश को नीला कहने मात्र से उसके सम्बन्ध में जो सही ज्ञान है उसका कोई नाश नहीं होता, अर्थात् आकाश वस्तुतः रंग हीन ही रहता है उसी तरह जो अज्ञानी के लिये भ्रान्ति है, वही ज्ञान के लिये प्रकाश है। अतः ज्ञानी के द्वारा जब वस्तु के रहस्य को जान लिया जाता है तब उसके लिये इस संसार के सभी सुख दुःख का कारण ही समाप्त हो जाता है अतः ज्ञानी के लिये संसार के सुख दुःख का कोई प्रभाव ही नहीं

---

1 त्रिपुरा रहस्य ज्ञानखण्ड) अध्याय 22 (उपसंहार)

रहता। ज्ञानी के जीवन की क्रियाएँ दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह होती हैं ज्ञानी पुरुष के क्रियाकलाप स्वतंत्र स्वयं प्रेरित ज्ञानमय कर्म होते हैं, जो स्वयं चैतन्य की ज्योति (प्रभा) से अलोकित होते हैं, किन्तु उपरोक्त क्रियाएँ एक अज्ञानी के लिये भ्रान्तिजन्य प्रतीत होती है ? अतः ज्ञानी के कर्म मूलतः ज्ञान-मंडित तथा ज्ञान-मय प्रकाश से स्वतः आलोकित रहते हैं, अतः ज्ञानी कभी भी भ्रान्तिग्रस्त नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि सभी कर्म वस्तुतः उसके आत्मदर्पण के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जब किसी को यह विश्वास हो जाता है कि ज्ञान के उदय पर सभी बाह्य वस्तुएँ अदृश्य हो जाती हैं तो उसका सही अर्थ यही निकलता है कि जो अज्ञान से पैदा हुई स्थिति थी, उसका नाश हो सकता है, तथा उसके नाश का कोई अन्य कारण हो ही नहीं सकता। यदि किसी दृष्टि-दोष पूर्ण व्यक्ति को वस्तुतः एक ही वस्तु दो रूप में नजर आती है तब किसी ज्ञान के द्वारा उसका दृष्टि दोष दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि दृष्टि-दोष के फलस्वरूप एक वस्तु को दो वस्तु की तरह देखने का कारण अज्ञान नहीं है, अपितु यह एक का दो दिखना उसका भौतिक दृष्टि दोष है, जिसको ज्ञान से नहीं अपितु भौतिक दृष्टि दोष के सुधार से ही ठीक ठीक यथाविधि देखा जा सकेगा, उसी प्रकार अज्ञान जनित भ्रान्ति का नाश ज्ञान से ही हो सकता है।

जगत का भास प्रत्येक जीवात्मा की क्षमता पर निर्भर है, अतः जबतक पूर्व कर्म रहते हैं तब तक मानव जीवन की क्रियायें चलती ही रहती हैं अतः पूर्व कर्मों की स्थिति तक मानवीय क्रियाओं को समाप्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रसंग में यहाँ पर यह आग्रह किया गया है कि यदि मानव द्वैतभाव से ऊपर उठ जाता है तब उसके लिये कोई भी उलझन अथवा समस्या ही नहीं रह पाती। इसी विषय को श्री परशुराम के प्रश्न के समाधान में निम्न प्रकार से सुस्पष्ट किया गया है—

परशुराम—अतः कृपया इस निष्कर्ष पर मत पहुँचो कि संसार है ही नहीं। इस प्रकार से सोचना भी गलत है। 'संसार नहीं है' यह मान्यता मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि है ही नहीं' ऐसा विपरीत निश्चय किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता[1]। इसके अलावा यदि केवल विचार मात्र से 'संसार नहीं है' यह प्रतिपादित किया जा सकता है, तो उसी व्यक्ति के विचार मात्र से यह भी तो स्थापित किया जा सकता है 'कि संसार है' क्योंकि स्वीकारोक्ति तथा अस्वीकृति केवल मात्र विचार है, अतः इस विचार की मान्यता का कोई महत्व नहीं है।

जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर की कोई वास्तविकता नहीं होने पर भी प्रतिविम्ब में उसकी स्थिति है, इसी तरह इस विश्व की कोई सही वास्तविकता

---

1 त्रिपुरा रहस्य ज्ञानखण्ड, अध्याय 22।100

नहीं होने पर भी उसकी चिदात्म स्थिति है, दर्पण में प्रतीत होने वाला नगर दर्पण रूप से तो है ही। अतः जगत को अद्वैत् चिदात्म स्वरुप से तो सत्य ही कहा गया है [1] अर्थात् जैसे नगर जो दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है यद्यपि वह सच नहीं है, तथापि उसके प्रतिबिम्ब की भी सत्ता है, उसी प्रकार यद्यपि जगत की कोई स्वतः स्वतंत्र सत्ता नहीं है, तथापि उसकी छाया अथवा स्थिति से तो इन्कार किया ही नहीं जा सकता।

सम्पूर्ण विश्व निःसन्देह चैतन्य है और यह स्वतः सिद्ध है। यही परम पूर्ण ज्ञान है। यदि संसार (विश्व) को अस्वीकार किया जाता है तो इस निषेध से सर्वव्यापक चैतन्य को बाधित किया जाना माना जायगा, जो कि त्रुटि होगी क्योंकि सर्वव्यापी चैतन्य में अभाव की कोई स्थिति चिन्तनीय ही नहीं है। जिस प्रकार दर्पण में नगर के प्रतिबिम्ब का अनुभव होता है उसी तरह सर्वव्यापक चैतन्य में जगत एव वस्तु का स्वतः भास होता है। यही सभी शास्त्रों का सारांश है। अतः सर्वव्यापक चैतन्य की दृष्टि से न तो कोई साधक ही है और न कहीं बन्धन अथवा मुक्ति है, इसलिये कहीं पर भी साधक अथवा साधना की कोई स्थिति ही नहीं है, क्योंकि सर्वत्र अखण्ड अद्वैत चैतन्य स्वरूपा भगवती त्रिपुरा की ही एक मात्र स्थिति एवं सत्ता है, जो सर्वव्यापक सृजन शक्ति है। भगवती त्रिपुरा ही सम्पूर्ण ज्ञान तथा अज्ञान है, वही बन्धन, मुक्ति तथा साधना है। अतः केवल मात्र भगवती त्रिपुरा को ही जान लेना ही सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान है।[2] इसलिये भगवान दत्तात्रेय का बोध है कि जो व्यक्ति इस प्रकार सर्वव्याप्त देवी भगवती त्रिपुरा की सर्वत्र सर्वोच्च परम् सत्ता तथा स्थिति को अच्छी तरह समझ के साथ आत्मसात कर लेता है वह। वस्तुतः पूर्ण ज्ञानी तथा स्वतंत्र मुक्त पुरुष है।

अतः भगवती त्रिपुरा ही एक मात्र नमन, मनन, स्मरण योग्य है। प्रणाम, माता भगवती त्रिपुरा माँ : सादर नमस्कार :



1 त्रिपुरा रहस्य (ज्ञानखण्ड) अध्याय 22।102

2 त्रिपुरा रहस्य (ज्ञानखण्ड) अध्याय 22। श्लोक 103 से 112

व्यक्तीकरण-प्रक्रम : भारतीय पद्धति

दर्शन का प्रयोजन भारत में पश्चिम से भिन्न है। भारत में दर्शन को जीवन-पद्धति तथा आध्यात्मिक अनुशासन स्वीकार करते हुए इसके द्वारा जीवन की गहनतम समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। आध्यात्मिक अनुशासन की दृष्टि से भारतीय दर्शन का क्षेत्र मनोविज्ञान, भौतिकी तथा रसायनशास्त्र से परे माना गया है अतः भारतवर्ष में दर्शन का प्रयोजन मानव द्वारा सत्य की खोज तथा उसका तात्विक विवेचन रहा है। भारत में दर्शन का जीवन तथा जीवन की समस्याओं के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, अतः यहाँ पर दर्शन का विकास गुरु-शिष्य-परम्परा के रूप में हुआ है ताकि इस परम्परा के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सके। इसलिये यद्यपि भारतवर्ष में दर्शनशास्त्र की अनेक शाखायें प्रशाखायें हैं, किन्तु इन सभी दार्शनिक सिद्धान्तों में मुक्ति को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है।

भारतीय चिन्तकों को यह अनुभव रहा है कि प्रत्येक प्रश्न का सन्तोषजनक हल है, और प्रत्येक समस्या का समाधान भी आत्मानुभव में ही निहित है। अतः जीवन की किसी समस्या का समाधान बाहर जाकर ढूँढ़ने की जरूरत नहीं है। किन्तु अपने आप को पहचानने का आत्मज्ञान स्वतः सहज अन्दर से ही प्रस्फुटित होता है, और बाह्य घटनायें तो केवल इस आन्तरिक अग्नि को हवा देने का उपक्रम मात्र हैं। मानव की अन्तरतम माँग आकांक्षा के प्रकाश में प्रेम ज्ञान तथा भक्ति की पूर्णता के अर्थ रही है, तथा इनको प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये यदि मानव अपने स्वयं पर ध्यान केन्द्रित करे तो वह प्रेम, ज्ञान तथा शक्ति की पूर्णता को सहज उपलब्ध कर सकता है।

जिस प्रकार प्रकाश से सभो बाह्य वस्तुएँ उजागर हो जाती हैं, उसी प्रकार अन्दर की रोशनी से ही इनकी जानकारी प्राप्त होती है। जिस प्रेम और भक्ति के लिये मानव का हृदय तड़पता है, वह उसी के अन्दर ही निहित है। असीम शक्ति, सृजनशीलता, सर्वात्म प्रेम तथा सर्वज्ञता की जो माँग मानव में यदा कदा उठती है जिनको प्राप्त किया जाना प्रायः सीमित मानव के लिये निःसन्देह कठिन कार्य है किन्तु आत्मज्ञानी के लिये इनको प्राप्त किया जाना संभव है।

आत्मज्ञान वह सर्वोच्च ज्ञान है, जिसके माध्यम से जानकारी के सभी दरवाजे खुल जाते हैं। आत्मज्ञान ही मानव जीवन के उद्देश्य की पूर्ण उपलब्धि है और इसके

द्वारा ही सभी मानवीय समस्याओं का समाधान हो सकता है। आत्मज्ञान के माध्यम से अश्रुत सुना जा सकता है तथा अचिन्तनीय बोधगम्य हो सकता है[1]। आत्मज्ञान से जीवन का कायाकल्प हो जाता है, क्योंकि इसके द्वारा ज्ञात तथा अज्ञात का भेद भी नष्ट हो जाता है, तथा आत्मज्ञान के प्रकाश में सम्पूर्ण ज्ञेय और अज्ञेय की इकाई का सहज दर्शन होता है।

समय के अन्तराल में चिन्तन ही आगे जाकर परम्परा में विकसित होता है, जिससे व्यवस्थित अनुशासन का निर्माण होता है और इसके निष्कर्षों के आधार पर तत्त्वमीमांसा का निरूपण होता है। इस प्रकार आत्मज्ञान की परिणित से सम्पूर्ण विश्व को समझा जा सकता है।

अतः यह सुनिश्चित है कि प्रत्येक मानवीय वृत्ति तथा सम्पूर्ण विश्व का मूल उद्गम स्रोत एक ही है। सामान्य मानव में उठने वाली तथाकथित निम्नतम वृत्ति तथा एक पहुँचे हुए संत की नैतिक उड़ान का उदगम् तथा स्रोत एक ही है अतः इनका समान अर्थ और महत्व है। इसलिये अनन्तकाल से सतत् प्रवाहित इन वृत्तियों में किसी प्रकार का व्यवधान डाले बिना पूरी सावधानी के साथ इनका अध्ययन किया जाना चाहिये। सभी वृत्तियों-प्रवृत्तियों का मूल उद्गम स्थान एक ही है, इस तत्व को भूल जाने के फलस्वरूप मानव सीमाओं में आबद्ध हो जाता है और अखण्ड एक को अलग-अलग खण्ड में अलग-अलग स्थिति मानने की भ्रान्ति में पड़ जाता है, और इस अज्ञान के कारण मानव स्वयं को सीमित तथा अपूर्ण मान बैठता है, अतः मानव को धैर्यपूर्वक प्रयत्नशील रहकर भ्रान्तिजन्य सीमा से ऊपर उठने की जरूरत है।

मानव जीवन की प्रत्येक असफलता, निराशा और दुःख का अनुभव उसकी अपूर्णता का स्मृतिसंकेत है जो उसको इस असहायता से ऊपर उठाकर पूर्णता की ओर अग्रसर होने की प्यास को बढ़ाता है, ताकि वह पूर्णत्व के लक्ष्य को प्राप्त कर सके। जब तक मानव अपने जीवन की निस्सारता तथा स्वयं की असहायता का अनुभव नहीं कर लेता, तब तक वह अपने जीवन की लक्ष्यप्राप्ति के हेतु पूरे हृदय से तल्लीनता से जुट ही नहीं पाता। निःसन्देह मानव अपने सीमित साधनों से जीवन-लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न अवश्य करता है, किन्तु जब तक उसका प्रयत्न, तल्लीनता तथा तीव्रतम आकांक्षा के स्तर तक नहीं पहुँचता तब तक वह आत्मज्ञान उपलब्ध नहीं कर सकता। अतः तीव्रतम आकांक्षा के स्तर तक पहुँचने पर ही उसको आत्मज्ञान तथा व्यक्तीकरण की अनुभूति हो सकती है।

---

1 छांदोग्य उपनिषद डॉ॰ एस॰ राधाकृष्णन् 1.3. पृष्ठ 446

वेदान्तसार के मान्यतानुसार एक सच्चे साधक तथा आत्मज्ञान जिज्ञासु के लिये निम्नांकित योग्यतायें आपेक्षित हैं। इनके विवेचन से यह प्रगट होता है कि आत्मज्ञान के पथ पर अग्रसर होने वाले व्यक्तित्व के लिये किन-किन गुणों अर्थात् योग्यता की आवश्यकता अनुभव की गई है :—

(क) साधक के लिये वेद तथा सभी वेदांग (नक्षत्र विज्ञान् इत्यादि) का अध्ययन तथा इनका सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है।

(ख) साधक का मन तथा हृदय पूर्णतया निर्मल तथा पवित्र होना चाहिये, तथा,

(1 उसके द्वारा उन सभी कर्मों का त्याग किया जाना चाहिये जिनके द्वारा उसके इस जीवन तथा आगामी जीवन की व्यक्तिगत आकाक्षओं की पूर्ति हो सकती है, जैसे देवलोक प्राप्ति-हेतु यज्ञादि कर्म, इसी तरह साधक को ब्रह्महत्या आदि उन दुष्कर्मों का भी त्याग करना चाहिये, जिनके करने से वह नर्कगामी हो सकता है।

(2) साधक को प्रतिदिन नित्यकर्म (प्रातः सायं सन्ध्या) करना चाहिये।

(3) साधक को समयानुसार नैमित्तिक संस्कार कर्म—जैसे शिशु जन्म संस्कार कर्म इत्यादि सम्पादित करना चाहिये।

(4) साधक के लिये समय-समय पर व्रत, उपवास, चान्द्रायण तथा उसके द्वारा किसी दोषपूर्ण कार्य होने पर प्रायश्चित कर्म सम्पादित किया जाना चाहिये।

(ग) साधक को प्रतिदिन भगवान की मूर्ति की सेवा, पूजा, आराधना करनी चाहिये।

इसके अलावा एक सच्चे साधक एवं जिज्ञासु के लिये निम्नांकित योग्यतायें भी अपेक्षित हैं :—

(1) साधक को वेदान्त के अनुसार शाश्वत तथा क्षणिक वस्तुओं का भेद सुस्पष्ट ज्ञात होना चाहिये, तथा उसको यह ज्ञान तथा समझ होनी चाहिये कि केवल मात्र ब्रह्म ही सत्य तथा सनातन है तथा अन्य सभी वस्तुएँ क्षणिक नाशवान तथा असत्य हैं।

(2) साधक को इस लोक तथा आगामी परलोक से सुख प्राप्ति की इच्छा से अलिप्त रहना चाहिये। उसको यह अनुभूति होनी चाहिए कि शारीरिक साज-सज्जा की तरह इस लोक के सांसारिक सुखों में कोई सार नहीं है क्योंकि शरीर तथा इन्द्रियजन्य सुखों की स्थिति अल्पकालीन

तथा क्षणिक है। उसको इसी तरह यह भी जानकारी होनी चाहिये कि परलोक में अमृतपान द्वारा अमर तथा देवता समान सुखी जीवन प्राप्त किया जाना भी अल्पकालीन उपलब्धि मात्र है, क्योंकि देवराज इन्द्र इत्यादि को भी कर्मफल भोगने तथा मुक्ति प्राप्त करने हेतु मानव जीवन लेना पड़ता है।

(3) साधक को छः प्रकार की तपस्या-सम्पदाओं से युक्त होना चाहिये :— जैसे (अ) शरीर-नियंत्रण (आ) मन-नियंत्रण (इ) मन को इन्द्रिय जन्य वस्तुओं से हटा लेने की शक्ति (ई) भूख प्यास आदि संताप सहन करने की शक्ति (उ) मनः शक्ति-स्थिति तथा (ऊ) वेदान्त तथा गुरु के शब्दों में दृढ़ आस्था और पूर्ण विश्वास।

(4) साधक में मुक्ति अथवा मोक्ष हेतु तीव्रतम इच्छा-आकांक्षा होना जरूरी है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का सिर आग में झुलस रहा हो और वह आँख मूँद कर पानी में कूद पड़ता है, उसी प्रकार साधक के लिये मुक्ति-मोक्ष के लिये तीव्रतम छटपटाहट पूर्ण आकांक्षा-स्थिति का होना जरूरी है।

उपरोक्त योग्यता अनुभव और तैयारियों के पश्चात् साधक को पूर्ण आत्म-विश्वास विनय और श्रद्धा के साथ उस गुरु के चरणों में जाना चाहिये जो वैदिक ज्ञान का निष्णात विद्वान् हो तथा जिसने स्वयं आत्म-साक्षात्कार कर लिया हो।

इसके पश्चात् ही गुरु द्वारा बोध अथवा दीक्षा प्रारंभ की जा सकती है।

अब इस पुस्तक के मुख्य नायक श्री परशुराम अपने गुरु श्री भगवान् दत्तात्रेय के सम्मुख उपस्थित होते हैं। गुरुश्रेष्ठ श्री दत्तात्रेय के पास पहुँचने के पूर्व श्री परशुराम अपने द्वारा किये गये क्षत्रिय जाति के प्रति निर्मम हत्याकांड का प्रायश्चित्त तप द्वारा कर चुके थे और उन्होंने अपने सामाजिक जीवन का निर्वाह करते हुए दीर्घ यशस्वी जीवन व्यतीत किया था। अतः अब श्री परशुराम के लिये केवल मात्र एक ही व्यक्तिगत कर्तव्य अवशेष रह गया था और वह था असीम शान्ति की प्राप्ति, ऐसी शान्ति जिसमें चट्टान की दृढ़ता हो।

इसी पुस्तक के अन्य पात्र 'राजकुमार हेमचूड' की कहानी अन्य प्रकार से प्रस्तुत की गई है। कहानी के प्रारंभ में श्री हेमचूड की समस्या को पेश किया गया है, जिसका तात्विक समाधान उसकी पत्नी के द्वारा सुस्पष्ट किया गया है। अतः राजकुमार हेमचूड को आत्मज्ञान प्राप्त होता है, और अन्त में वह शासक के उत्तर-दायित्व के निर्वाह-कर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

साधक के लिये निर्धारित योग्यताओं के प्रसंग में यह आग्रह रहा है कि साधक को उसके सामाजिक वातावरण तथा कर्तव्यों से पृथक नहीं किया जाना चाहिये। बगैर मन-शुद्धि के साधक गुरु-सानिध्य प्राप्त ही नहीं कर सकता, तथा साधक के लिये वेदों का अर्थ हृदयंगम करने के लिये पर्याप्त प्रतिभा की भी आवश्यकता रहती है। उसका मन और हृदय अपने परिवार तथा समाज के प्रति निर्धारित कर्तव्यों की यथा-विधि पालना से निर्मल तथा पवित्र हो सकता है। इसके अलवा साधक द्वारा उसके जन्मतः वर्ण के लिये निर्दिष्ट कर्तव्य कर्मों तथा समय-समय पर निर्धारित उत्सव प्रसंगादिक दायित्व का यथाविधि पालन किया जाना भी आवश्यक है। इस प्रकार जन्मगत कर्मों के अन्तर्गत उसके पूर्वजों के प्रति कर्तव्यों का भी समावेश किया गया है। भारतीय पद्धति के अनुसार साधक के इन व्यक्तिगत-सामाजिक कर्तव्यकर्मों की सूची को युंगीय विचारधारा के अन्तर्गत उसके व्यक्तिगत चेतन, सामूहिक चेतन तथा अवचेतन में स्थित उसके परिवार, समाज, पूर्वज तथा इष्टदेव के प्रति निर्धारित उत्तर-दायित्वपूर्ण कर्तव्यों को पालना माना गया है। अतः भारतीय तथा युंगीय दोनों पद्धतियों में साधक के लिये आध्यात्मिक प्रशिक्षण के पूर्व उसके लिये निर्धारित व्यक्ति-गत तथा सामाजिक कर्तव्यों का यथाविधि निर्वाह किया जाना परम आवश्यक माना गया है। कोई भी साधक जब तक अपने लिये निर्धारित सामाजिक कर्तव्यों का भलीभाँति पालन नहीं कर लेता तब तक वह आध्यात्मिक प्रशिक्षण के लिये योग्य नहीं समझा जा सकता। किन्तु इस पुस्तक के अन्तर्गत हेमचूड़ के कथानक द्वारा यह भी संकेत दिया गया है कि आध्यात्मिक ध्येय की प्राप्ति के लिए निर्धारित सामाजिक कर्तव्यों को पालना तथा इनकी समाप्ति किया जाना साधक के लिए कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। आध्यात्मिक ध्येय की प्राप्ति हेतु साधक में तीव्रतम आकांक्षा का उदय होना मात्र ही पर्याप्त है। यदि साधक के हृदय में आत्मज्ञान के लिए सच्ची लगन तथा तड़पन है तो गुरु के द्वारा निःसन्देह कृपा की वर्षा होती है और उसको आत्मज्ञान की दीक्षा प्रदान की जाती है। सच्चे लगनशील तथा तीव्रतम आतुर साधक को निर्धारित उत्तरदायित्व पूर्ण कर्तव्यों के यथाविधि पालन के समान्य नियम से मुक्त रखा जा सकता है। अतः इस कथानक के अन्तर्गत राजकुमार हेमचूड को आत्मज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् न केवल योग्य शासक की तरह वर्णित किया गया, अपितु उसको आत्मज्ञान-सम्पन्न नरेश तथा योग्यतम आध्यात्मिक नेता की तरह उसको प्रजा का पालन कर्त्ता भी बतलाया गया है।

साधक के लिए जीवन में घटित (परस्पर विरोधी द्वन्द्वों के) टकराव का अनुभव सम्पादित किया जाना जरूरी है ताकि इन परस्पर विरोधी क्रिया-कलापों के माध्यम से वह इनकी निस्सारता को भलीभाँति समझ सके। साधक के लिए यह अनुभव किया

जाना जरूरी है कि जीवन में घटित इन परस्पर विरोधी क्रिया-कलापों से पूर्णतः तृप्ति नहीं हो सकती। इसप्रकार बाह्य क्रिया कलापो के प्रति निस्सारता के अनुभव के पश्चात् ही साधक का ध्यान अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होता है, और तभी वह उसमें निहित आन्तरिक समस्याओं को भलीभाँति पकड़ तथा समझ सकेगा और साधक ठीक ढंग से अन्तर्निहित समस्या पर यथाविधि विचार करेगा, तभी तत्काल उस समस्या का समाधान भी स्वतः उसको मिल जायगा। श्री परशुराम ने जब यह अनुभव कर लिया कि उनको महत्वाकाक्षाओं का कोई भी अर्थ ही नहीं है तब वह आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु श्री गुरु के चरणों में उपस्थित हुए। श्री परशुराम को भगवान् विष्णु का अवतार माना जाता है, किन्तु फिर भी उनको क्रोध के वशीभूत होते हुए दिखलाया गया है। श्री परशुराम ने अपने उत्तर जीवन काल में अपने प्रारंभिक जीवन काल में घटित हिंसा का कठिन तप द्वारा प्रायश्चित् करने का निश्चय कर लिया था, फिर भी जब उनको यह सूचना मिली कि उनके गुरु श्री शिव के धनुष को श्रीराम ने भंग किया है तो श्री परशुराम अपने प्रायश्चित-निर्णय को भूल कर क्रोधग्रस्त हो उठे और राजा जनक के दरबार में जाकर क्रोध से बौखला उठे। प्रायश्चित-निश्चय तथा कठिन दीर्घकालीन तपस्या के बावजूद भी श्री परशुराम अपने अहम् भाव से मुक्त नहीं हो सके थे और इसलिए उनको क्रोध के अधीन हो जाना पड़ा। अतः इस क्रोध से छुटकारा पाने हेतु श्री परशुराम आदि गुरु श्रेष्ठ भगवान् दत्तात्रेय के पास गये, तथा दयालु गुरु ने उन्हें आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से अहं तथा क्रोध से उबार लिया। गुरुसानिध्य तथा गुरु द्वारा श्री परशुराम ने अनुभव किया कि उनके क्रोध का कोई सार अथवा अर्थ ही नहीं है, अतः गुरुसानिध्य से ही आत्मज्ञान संभव है।

राजकुमार हेमचूड़ के कथा-प्रसंग के अन्तर्गत सर्वप्रथम राजकुमारी ने श्री हेमचूड़ को यह अनुभव कराया कि अंधकारपूर्ण कामजनित वासना में कोई सार नहीं है और वासना से कभी पूर्ण तृप्ति अथवा सन्तोष एवं शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। तथा वासना के सुख का क्रमवश अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया जाता है, जिसके चक्कर में पड़कर प्रायः मानव अंधा होकर उसमें लिप्त पड़ा रहता है। वासना-जनित जीवन से साक्षात्कार करते हुए राजकुमार हेमचूड़ के मन में सहज यह प्रश्न उठा कि इस वासना में क्या कहीं असीम शक्ति या आनन्द है? इस वासना-जनित परस्पर विरोधी क्रिया कलापों के अन्त में कहाँ शान्ति तथा सुख है? विदुषी राजकुमारी हेमलेखा ने राजकुमार की सहज जिज्ञासा वृत्ति को बढ़ावा देते हुए यह सुस्पष्ट किया कि इन्द्रियजन्य व्यापार से मानव को कभी भी पूर्ण तुष्टि, तृप्ति तथा सन्तोष, शान्ति एवं आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता और इन्द्रियजन्य क्रियाकलापों

के पीछे भागने का अर्थ एक सुख के लिये अन्य दुःख को न्योता देना है, क्योंकि एक सुख की अतृप्ति अन्य दुःख का प्रारंभ मात्र है। अतः सभी भौतिक सुखों को उनके ही सही परिप्रेक्ष्य में ही स्वीकार किया जाना चाहिए तथा उनको कल्पना का रंग देकर बढ़ा चढ़ाकर अतिरंजन मानने की भ्रान्ति से बचना चाहिये क्योंकि अतिरंजित कल्पना-भावना का परिणाम अन्त में दुखदायी ही निकलता है। अतः बुद्धिमान मानव को दुखदायी अतिरंजन भावना से बचना चाहिये।

युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत व्यक्तीकरण प्रक्रिया का विभाजन दो सम्भागों में किया गया है। प्रथम सम्भाग में व्यक्ति का पूर्वकालीन जीवन है तथा द्वितीय सभाग के अन्तर्गत उसके उत्तरकालीन जीवन की गणना की गई है। युंग के मान्यतानुसार प्रथम सम्भाग के प्रारंभकालीन जीवन में अहम् को महत्वपूर्ण मानते हुए उसको अधिक सशक्त तथा विस्तृत किये जाने का आग्रह किया गया है। इस पूर्ववर्ती जीवनकाल के दौरान में व्यक्ति को अपनी तत्कालीन स्थिति का ध्यान रखते हुए अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक कर्त्तव्यों के दायित्व का भलीभांति निर्वाह करना चाहिये तथा तत्सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करते हुए व्यक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व का सुनियोजित प्रकार से निर्माण किया जाना चाहिये। इस प्रारम्भिक जीवन काल के दौरान में अवचेतना तथा शिशु-बीज रूप व्यक्तित्व का विकास उसके सुस्पष्ट आत्म चेतना से मंडित अहम् द्वारा होता है। इस प्रकार अवचेतन से आत्म-चेतन का विकास मानव जीवन की पूर्व प्रारंभिक भूमिका मानी गई है। इस कार्य-काल के यद्यपि युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत कोई सुस्पष्ट तथा निर्धारित स्पष्ट परिभाषित शिशुशिक्षण का कोई सिद्धान्त अथवा किशोरप्रशिक्षण का कोई स्पष्ट अभ्यास-क्रम प्रस्तुत नहीं किया गया है, तथापि मनीषी युंग द्वारा यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि जीवन के पूर्व काल में शिशु तथा किशोर युवा जीवन की समस्याओं को उसके अहम् व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द उसके तत्कालीन जीवन के अनुभवों को उसके वातावरण, परिवार, समाज तथा उसके सामाजिक उत्तर-दायित्वों के सन्दर्भ में स्वीकार किया जाना चाहिये। ताकि व्यक्ति अपने पूर्वकालीन जीवन की सभी समस्याओं के अनुभव के प्रकाश में अपना सुदृढ़ विवेकपूर्ण अहम् बना सके तथा वह परिस्थितिजन्य पारिवारिक, सामाजिक एवं व्यावसायिक उत्तरदायित्वों को भलीभाँति वहन करने के लिये सशक्त तथा समर्थ बन सके। मानव के पूर्ववर्ती जीवनकाल के दौरान में सभी प्रकार की आध्यात्मिक लालसा को स्थगित तथा अलग रखा जाना तथा इस पूर्ववर्ती दौरान में केवल मात्र बाह्य जीवन की तत्कालीन समस्याओं में जुट जाना ही युङ्ग के मान्यतानुसार श्रेयस्कर

कहा गया है।[1] इस बिन्दु के बाबत भारतीय तथा युङ्गीय पद्धतियों में गहरा अन्तर है, क्योंकि भारतीय व्यक्तीकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत जीवन के प्रारंभिक काल के दौरान में आध्यात्मिक खोज (आकांक्षाओं) के लिए उठने वाली वृत्तियों पर अंकुश रखने का कोई संकेत नहीं मिलता है अपितु भारतीय वाङ्मय में कतिपय ऐसे अनेक प्रसग मिलते हैं कि बाल्यकाल में ही व्यक्ति आध्यात्मिक लालसा की ओर सहज प्रवृत्त हो गया है। भक्त ध्रुव आठ वर्ष की अल्पायु में अपनी विमाता के प्रति घटित क्रूर व्यवहार से व्यथित होकर नारद के बोध से भगवत् आराधना में प्रवृत्त हो गये थे, इसी तरह भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्ण भी युवावस्था से ही आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में लग गये थे और उन्हें जीवन के पूर्वकाल में ही आत्मज्ञान से संपन्न होना माना गया है।

इसके अलावा युंगीय मनोवैज्ञानिक पद्धति तथा भारतीय व्यक्तीकरण-प्रक्रिया में एक अन्य अन्तर भी ध्यान देने योग्य है। भारतीय चिन्तन के अन्तर्गत आध्यात्मिक जिज्ञासा-आकांक्षा का बीज व्यक्ति के जन्म के साथ ही मान लिया गया है। इस धारणा के कारण प्रत्येक भारतीय बालक के नामकरण संस्कार के समय उसको किसी देवता के नाम से जोड़ा जाता है, अर्थात् भारतीय परिवार यह प्रारभ से ही अपेक्षा करने में प्रवृत्त होता है कि इस व्यक्ति विशेष शिशु में जन्म से ही अमुक देवता का अश मौजूद है और तदनुसार ही उस बच्चे को शुरू से ही उक्त देवत्व के विकास के लिये तैयार किया जाता है, ताकि वह बालक आगे जाकर उक्त देव अश के अनुरूप पूर्णता प्राप्त कर सके। भारतीय चिन्तन में हिन्दुओं के सोलह संस्कारों का बड़ा महत्व है, यद्यपि आरंभ से व्यक्ति को उसको सहज वृत्तियों के अनुरूप व्यक्तित्व विकास करने की भी पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की गई है।

युंगीय मनोविज्ञान पद्धति के अन्तर्गत उपरोक्त प्रकार के किसी शिक्षण अथवा आध्यात्मिक पद्धति या परिपाटी का कोई विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है। युंगीय मनोविज्ञान नवीन विचारधारा है तथा इसका विकास मनोविकृति विज्ञान से हुआ है, अतः युंगीय मनोविज्ञान में आध्यात्मिक अनुशासन को नजर अन्दाज करते हुये केवल मात्र अहम् को दृढ़ता पूर्वक स्थापित किये जाने तथा उसका समय के साथ विस्तार किये जाने का आग्रह किया गया है। युंग द्वारा जीवन के पूर्वकाल में केवल उसकी बाह्य समस्याओं पर ही ध्यान केन्द्रित किये जाने का आग्रह रहा है,

---

1 युंग का उपरोक्त मान्यता आज 25 वर्ष बाद बदलती हुई प्रतीत होती है क्योंकि आज का कतिपय पाश्चात्य युवावर्ग विशेषतः अमेरिकन युवक वर्ग में आत्मज्ञान प्राप्ति की ओर विशेष रुझान देखी जाती है।

क्योंकि युंग के मान्यतानुसार आध्यात्मिक आकांक्षा के प्रति आमुख होने के लिये व्यक्ति के जीवन का उत्तरकाल उपयुक्त माना गया है और इसलिये व्यक्ति के प्रारम्भिक जीवनकाल के दौरान में आध्यात्मिक लालसाओं में उलझना युंग के मान्यतानुसार भ्रांन्तिजन्य हो सकता है, तथा अध्यात्म सम्बन्धी विवेचन के लिये मानव का उत्तरकालीन जीवन ही अधिक उपयुक्त माना गया है, इसलिये युंग ने जीवन के लिये बहिर्मुखी प्रवृत्ति तथा उत्तरकालीन जीवन के दौरान में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति द्वारा आध्यात्मिक चिन्तन को अपनाने का संकेत दिया है। युंग की यह भी मान्यता रही है कि मानव को सर्वप्रथम बाह्य समस्याओं के समाधान के पश्चात् ही उसके उत्तरकालीन जीवन में इन बाह्य समस्याओं के अनुभव के प्रकाश में अन्तर्मुखी होना चाहिये। अतः जन्म से लेकर जवानी तक के जीवन के अनुभव का शिक्षण बहिर्मुखी वृत्ति से सम्पादित किया जाना, तथा इस अनुभव के आधार पर बाद में बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी वृत्ति में विकसित किया जाना ही सहज मनोवैज्ञानिक क्रम है।

युंगीय मनोविज्ञान मानवीय अनुभवों की व्याख्या प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास है। इसकी स्थिति मनस्तापी रोगी तथा आध्यात्मिक अनुशासन में आबद्ध मानवीय समस्याओं के अंतरकाल (संक्रान्तिस्थल) में है। अर्थात् युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत एक ओर मनस्ताप रोगियों की समस्याओं तथा दूसरी ओर आध्यात्मिक साधन संपन्न उच्चस्तरीय मानवों की समस्याओं के समाधान हेतु व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं तथा निम्नतर एवं उच्चतम मानसिक स्थितियों के भेद पर सम्यक् प्रकार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। युंगीय मनोविज्ञान मनस्तापी रोगियों को समस्याओं पर भी विचार करने के लिये बाध्य है, क्योंकि इस कार्य द्वारा वह अपने वैज्ञानिक कर्त्तव्य पर बने रहने की आकांक्षा रखता है, तथा इसी प्रकार युंगीय मनोविज्ञान को आध्यात्मिक समस्याओं के प्रति भी सतत् जागरूक रहना पड़ता है, क्योंकि आध्यात्मिक समस्याओं को भी आज के विकसित राष्ट्रों में बड़ा महत्व दिया जा रहा है। इस प्रकार युंगीय मनोविज्ञान को मनस्तापी रोग सम्बन्धी निम्नतम धरातल तथा परम्परागत अध्यात्म सम्बन्धी उच्चतम स्तर के बीच अनिवार्यतः तालमेल बनाये रखना पड़ता है और इस वैज्ञानिकता तथा परम्परा के बीच तादात्म्य रखने के प्रयत्न में युंगीय मनोविज्ञान को एक रहस्यात्मक भूमिका स्वीकार करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति के कारण युंगीय मनोविज्ञान को एक ओर आदर्शवादी आध्यात्मिक परम्परागत साधन (अनुशासन) को स्वीकार करना पड़ता है, तथा दूसरी ओर उसको वैज्ञानिक क्रियात्मक व्यवहारिक उपचार के मानवीय कर्त्तव्यों की पालना के लिए भी बाध्य होना पड़ा है। इस प्रकार उभय पक्षों की यथावत्

स्थितियों का निर्वाह करने की दृष्टि से युंगीय मनोविज्ञान को कोई नवीन चिन्तन अथवा विचार की तरह मान्यता प्राप्त नहीं है। मनस्तापी रोगियों की समस्याओं से सम्बन्धित रहना युंगीय मनोविज्ञान के लिये जरूरी है अतः आध्यात्मिक क्षेत्र के आलोचकों ने युंगीय मनोविज्ञान को प्रायः नास्तिक विचार[1] कहा है।

आध्यात्मिक शिक्षक अथवा गुरू किसी के पास जाकर उसकी दैनिक (सामाजिक अथवा व्यावसायिक) समस्याओं के सम्बन्ध में समाधान अथवा उपदेश देने के कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। वह केवल उन्हीं लोगों का मार्गदर्शन करता है, जो उसके चरणों में पहुँच कर अपनी समस्याओं से छुटकारा पाने के लिये तड़पते हैं तथा जो आतुर होकर मोक्ष की कामना सच्चे हृदय तथा लगन के साथ व्यक्त करते हैं। इस प्रकार की स्थिति में गुरु सच्चे तथा लगनशील शिष्य के कल्याण हेतु निःसन्देह कृपा करते हैं, चाहे साधक शिष्य युवा हो अथवा वृद्ध हो। भारतीय परम्परा के अनुसार गुरु योग्य तथा आतुर जिज्ञासु शिष्य को बोध देने के लिए उसी समय तत्पर हो जाते हैं और वह गुरु-बोध के लिये उसे लम्बी प्रतीक्षा में लटकाये रखना उचित नहीं मानते। युंगीय चिन्तन के अन्तर्गत किसी नवयुवक, युवती अथवा बालक की सच्ची आध्यात्मिक आकांक्षा के उदय होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती, और उसकी मान्यता में नवयुवक, युवती अथवा बालक के हृदय में उत्पन्न आध्यात्मिक आकांक्षा को सही अथवा निष्ठायुक्त नहीं माना जाता, अतः युंगीय चिन्तन के अनुसार यदि किसी बालक अथवा युवक द्वारा आध्यात्मिक आकांक्षा के प्रति भावना प्रगट की जाती है, तो उसको स्थगित किये जाने तथा व्यक्ति को तत्कालीन कर्तव्यों के पालन हेतु परामर्श दिया जाता है।[2] क्योंकि युंगीय पद्धति के अन्तर्गत समय को विशेष महत्व दिया गया है और मानव जीवन का पूर्वकालीन तथा उत्तर कालीन सम्भागों में क्रमानुसार विभाजन किया गया है, तथा आध्यात्मिक आकांक्षा की पूर्ति के हेतु केवल मानव के उत्तरकालीन जीवन को ही उपयुक्त माना गया है तथा पूर्ववर्ती जीवन काल के लिये बाह्य प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिये कर्तव्य निश्चय किये जाने का आग्रह किया गया है इसलिये युंगीय चिन्तनधारा के गुरु के द्वारा बालक अथवा नवयुवक, नवयुवती द्वारा आध्यात्मिक बोध की आकांक्षा उपस्थित किये जाने पर उसको उपयुक्त समय के लिये प्रतीक्षा किये जाने का परामर्श दिया जाता है। युंग का यह अनुभव रहा है कि मानव के लिए प्रारम्भिक जीवन काल तथा उत्तरकालीन जीवन की समस्याओं में परस्पर अन्तर तथा विरोध है

---

1 God and the unconscious : V. white पृष्ठ 257

2 आजकल उपरोक्त परिस्थिति में परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा है।

तथा मानवीय स.स्यायें आयुभेद के सन्दर्भ में ही उचित प्रकार से निपटायी जानी चाहिये। किन्तु इसके विपरीत भारतीय चिन्तन के अनुसार आयुभेद का कोई निश्चित क्रम नहीं है तथा सभी समस्यायें किसी भी आयुवर्ग के सम्मुख समान रूप से उठ सकती हैं अत: एक बालक में भी आध्यात्मिक आकांक्षा का उदय होना सहज संभव है जिसका समाधान उसी समय समर्थ तथा कृपालु गुरु द्वारा किया जाता है। भारतीय चिन्तन की मान्यता है कि यदि बालक में समय से पूर्व आध्यात्मिक जिज्ञासा सही अर्थों में निष्ठा के साथ उदय होती है तो तत्काल उसको आत्मज्ञान का लाभ प्रदान किया जाना चाहिये ताकि आत्म-दर्शन के पश्चात् वह अपने निर्धारित कर्त्तव्य कर्मों का अधिक योग्यतापूर्वक निर्वाह करने में अधिक सक्षम हो सके। भारतीय चिन्तन क अनुसार आत्मज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सभी कर्मों का निष्पादन अधिक योग्यता से हो सकता है किन्तु युंगीय विचारधारा के अनुसार मानव का प्रारम्भिककाल के जीवन के कर्तव्यों के निर्वाह के पश्चात ही उत्तरकालीन जीवन के विकास के लिये अन्त:मुखी आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करना श्रेयस्कर है, अन्यथा प्रारम्भिक जीवनक्रम के दौरान में आध्यात्मिक आकांक्षा हेतु मन के अन्त:मुखी होने से अहम्केन्द्रित बाह्य जगत के साथ उचित समायोजन कार्य में व्यवधान उपस्थित होने का खतरा हो सकता है जिसके परिणाम स्वरूप उसके व्यक्तित्व का सहज स्वाभाविक विकास रुक जायगा और वह व्यावहारिक जीवन में असफल हो जायगा, इसलिए युङ्ग ने सर्व प्रथम बहिर्जगत के सही प्रकार से समायोजन के बाद ही आयुप्राप्त साधक को आध्यात्मिक विकास के लिए अन्तर्मुखी अवस्था की तरफ प्रवृत्ति होने का बार बार संकेत दिया है। किन्तु इसके विपरीत भारतीय चिन्तन के अन्तर्गत किसी भी आयु के व्यक्ति को उसकी आध्यात्मिक पिपासा की प्राप्ति के लिए योग्य माना गया है बशर्ते साधक अथवा जिज्ञासु की आकांक्षा निष्ठायुक्त तथा तीव्रतम हो। भारतीय चिन्तन के अनुसार आत्मज्ञानी के लिये सभी समस्याओं का सही समाधान खोजा जाना अधिक सरल तथा स्वाभाविक है तथा आत्मज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति हो जीवन को अधिक स्पष्टता तथा गहराई से समझ कर उसके साथ सुनियोजन कर सकता है। इसके अलावा भारतीय चिन्तन परम्परा में विधि (भाग्य) की महत्ता भी स्वीकार की गई है। भाग्य, भावी अथवा विधि तो घटित हो कर ही रहती है, और मानव भाग्य अथवा अदृश्य भावी को किसी प्रकार बदल ही नहीं सकता। यदि किसी व्यक्ति का जन्म भाग्यवश किसी शूद्र अथवा वैश्य कुल में हो जाता है तब उसको अनिवार्य रूप से उसके वर्ण तथा जाति के लिये निर्धारित कर्तव्य कर्मों को करना ही पड़ेगा, भले वह आत्मसाक्षात्कार ही क्यों न कर ले। भक्त रैदास एक चमार कुल में उत्पन्न हुए थे, जिनको आत्मज्ञान

के बावजूद भी चमार के कर्तव्यकर्म में व्याप्त रहना पड़ा। कबीर जुलाहे थे, वह आत्मदर्शी हो जाने के उपरान्त भी बुनाई के काम में लगे रहे। रैदास तथा कबीर को इस युग का महान संत माना जाता है। त्रिपुरा रहस्य (ज्ञानखण्ड) में इस प्रकार के अन्य आत्मज्ञान-सम्पन्न संतों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मज्ञान की उपलब्धि के लिये आयु, जाति वर्ण आदि का कोई भेद नहीं है, तथा आत्मज्ञान-संपन्न व्यक्ति सभी प्रकार के निर्धारित कर्तव्य कर्म के लिये स्वतंत्र है।

भारतीय परम्परा के अनुसार मानवजीवन को निम्न अवस्थाओं में विभाजित किया गया है :–

(1) ब्रह्मचर्याश्रम (2) गृहस्थाश्रम (3) वानप्रस्थ आश्रम तथा (4) सन्यास आश्रम। जीवन का सर्वप्रथम काल ब्रह्मचर्याश्रम विद्याध्ययन हेतु निर्धारित है। इसके पश्चात् मानव जीवन के द्वितीय चरण गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और पत्नी तथा परिवार के साथ अपना घर बसाता है, तथा गृहस्थाश्रम धर्म के अन्तर्गत अपना तथा अपने समूचे परिवार का कर्तव्यकर्म द्वारा भरण पोषण करता है। इसके बाद गृहस्थ मानव सक्रिय क्रिया कलापों से निवृत्ति लेते हुए वानप्रस्थ आश्रम का जीवन जीता है। जीवन का अन्तिम चरण सन्यास आश्रम है जिसमें व्यक्ति को घर, परिवार वगैरह छोड़कर एकान्तवास में शान्तिपूर्ण जीवन यापन करना चाहिये। फिर भी सच्चे साधक तथा आत्मज्ञान जिज्ञासु के लिये इन चारों आश्रमों को पालन किए जाने की कोई अनिवार्यता नहीं है। ब्रह्मचारी भी आत्मज्ञान प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर सकता है, इसी तरह गृहस्थ का सामान्य अर्थ घरेलू जीवन व्यतीत करने वाला माना जाता है किन्तु उसका अर्थ स्वयं में स्थित भी लगाया जा सकता है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी का सामान्य अर्थ अध्ययनशील किशोर है, किन्तु असामान्य अर्थ में उसको ब्रह्म में विचरण करने वाला भी माना जा सकता है। वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम तो निःसन्देह उत्तरकालीन मानव जीवन की अवस्थाएँ हैं, जिनमें निवृतिकी ओर बढ़ने का आग्रह किया गया है, और संसार तथा इन्द्रियजन्य क्रिया-कलापों से पृथक् होने का प्रयत्न ही अन्तःमुखी निवृत्ति मार्ग है।

अब उपरोक्त सन्दर्भ में आध्यात्मिक साक्षात्कार हेतु निर्धारित मार्ग के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत किया जाना उपयुक्त होगा।

भारतीय पद्धति के अनुसार मानव जीवन का प्रयोजन निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति ही है। यदि मानव अपने जीवन का क्रम जारी रखता है तो वह निःसन्देह अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इसलिये मानव के सहज विकास की परिणति अन्त में जाकर आत्म-साक्षात्कार में ही होगी, जो कि मानव की जीवनयात्रा को अन्तिम

मंजिल अथवा लक्ष्य प्राप्ति मानी गयी है । सम्पूर्ण सृष्टि का ध्येय मोक्ष सम्पादन है और व्यक्ति जो कि सम्पूर्ण सृष्टि (समष्टि) का एक खण्ड मात्र है, वह सृष्टि विकास के इस सहज क्रम में एक मात्र हिस्सेदार ही है । अतः सृष्टि (समष्टि) के मोक्ष ध्येय की प्राप्ति में उसके अंश मानव की भी मोक्ष प्राप्ति हेतु यात्रा को सन्निहित माना जाना उचित है । सृष्टि अथवा समष्टि के विकास के साथ मानव अथवा व्यक्ति का विकास सहज रूप में जुड़ा हुआ है । सृष्टि में सभी वस्तुयें पूर्ण तथा सुनियोजित हैं । यह केवल मात्र हमारी पृथकत्व विशिष्टता है जिसके फलस्वरूप हम आत्मा तथा अनात्मा के चक्कर में पड़ जाते हैं, तथा समष्टि में पृथकत्व का भेद करके निरर्थक विरोधाभास के भ्रमजाल में फँसते हैं । भ्रम तथा अज्ञानवश हम सम्पूर्ण अखण्ड से अपने आप को खण्ड मान लेने की सर्व प्रथम त्रुटि करते हैं और बाद में जाकर शाश्वत इकाई के साथ अपनी विशिष्टता को काल्पनिक आधार पर जोड़ने का प्रयत्न करते हैं, और इस प्रकार आत्मा तथा अनात्मा सम्पूर्ण तथा खण्ड, सनातन तथा क्षणिक के बीच जब कोई स्थायी सम्बन्ध स्थापित किये जाने का असभव प्रयत्न-विफल हो जाता है तब हम अज्ञानवश दुख का अनुभव करते हैं । इसलिए भारतीय चिन्तन परम्परा में यह आग्रह किया गया है कि शाश्वत सनातन इकाई तथा मौलिक अभेद स्थिति का ही दर्शन करना चाहिए, जो कि सर्वत्र व्याप्त है, तथा जिसमें वस्तुओं की सुनियोजित प्रकार से स्थिति है इसी प्रसंग में भारतीय चिन्तन पद्धति के अन्तर्गत बराबर सावधान किया गया है कि केवल भविष्य की खाम-ख्याली के चक्कर में पड़ कर अपनी आत्मिक ईकाई को नहीं भूल जाना चाहिए । प्रत्येक वस्तु आत्मा की ईकाई में स्थित है, इसलिये यह अनुभूति किया जाना जरूरी है कि केवल सर्वव्यापक आत्मा मात्र ही सत्य है, जो था, है तथा रहेगा । इस दृष्टि के अन्तर्गत मोक्ष तथा मुक्ति के लक्ष्य की स्थिति किसी समय (काल)-भूत अथवा भविष्य में निहित नहीं है । और इसलिए मुक्ति तो केवल मृत्यु के दौरान में ही प्राप्त की जा सकती है ऐसा नहीं है, किन्तु प्रत्येक क्षणमें अभी और यहाँ मुक्ति की प्राप्ति किया जाना संभव है । आत्म-दर्शन को प्रक्रिया कालातीत है । निसन्देह आत्म-साक्षात्कार की उपलब्धि निर्धारित समय पर होती है, किन्तु आत्मज्ञान के उदय के उस समय की गणना नहीं की जा सकती क्योंकि यह उपलब्धि निसन्देह हो चुकी है और होती रहेगी ।

युंगीय विचारधारा के अन्तर्गत 'सभी व्यक्तियों के लिए कोई एक निश्चित लक्ष्य है', इस प्रकार मान्यता को अस्वीकारा गया है । यद्यपि युंग ने व्यक्तीकरण प्रक्रिया (व्यक्तित्व विकास) के प्रयोजन को महत्व दिया है किन्तु जीवन का लक्ष्य पूर्णत्व है न कि गुणों की पराकाष्ठा । डा० युंग ने आत्म-साक्षात्कार को ध्येय के रूप

में नहीं माना है किन्तु व्यक्तीकरण के प्रक्रम में इसको सहज नैसर्गिक अन्तिम परिणाम माना है। अतः व्यक्तित्व-विकास के सम्बन्ध में भारतीय तथा युंगीय विचारों में अद्भुत समानता है। उनकी धारणा के अनुसार व्यक्तित्व विकास का अर्थ किसी एक ध्येय की प्राप्ति नहीं है। युङ्ग की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग अपनी समस्यायें होती हैं, और उसको उनसे अपनी क्षमता के अनुसार निपटना पड़ता है और इसलिए सभी जन्म लेने वाले व्यक्तियों के लिए आत्म साक्षात्कार को ही ध्येय मान लिया जाना उचित नहीं है। इसलिये युंग के मान्यतानुसार तो व्यक्ति विकास (व्यक्तीकरण प्रक्रिया) को ही स्वाभाविक क्रम की तरह स्वीकार किया गया है। युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानव की तत्कालीन समस्याओं के समाधान के लिए आग्रह किया गया है ताकि मानव को अपनी समस्याओं के हल के द्वारा उसके सहज स्वाभाविक विकास में उचित मदद मिल सके, इसलिये युंगीय चिन्तन के अन्तर्गत आत्मदर्शन अथवा आत्म-साक्षात्कार के माध्यम से सभी मानवीय समस्याओं के समाधान होने की सभावना का कहीं भी प्रतिपादन अथवा संकेत नहीं किया गया है। युंग ने कहीं पर भी आध्यात्मिक मार्गदर्शक अथवा गुरु बनने की कोई अभिव्यक्ति नहीं की है। इसके विपरीत युंग ने तो आध्यात्मिक नेता अथवा गुरू बनने में सदैव संकोच प्रगट किया है। युंग की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आत्म-विकास के लिये तथा अपने द्वारा निश्चित् किये गये रास्ते पर आगे बढ़ने के लिये पूरी छूट तथा स्वतंत्रता दी जानी चाहिए, ताकि वह अपनी क्षमता तथा इच्छा के अनुसार अपना विकास कर सके और मानव की इस आजादी में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं होना चाहिए। पाश्चात्य देशों की परम्परा के अनुसार व्यक्ति को इस प्रकार स्वतंत्रता दिया जाना उचित ही है, किन्तु यदाकदा इस स्वतंत्रता के फलस्वरूप मानव को भ्रान्ति-ग्रस्त भी होना पड़ता है।

भारतीय चिन्तन के अनुसार एक साधक की भूमिका तैयार करने की दृष्टि से उसको दिन प्रति दिन नित्यकर्म, आराधना–पूजादि तथा शारीरिक, मानसिक नियंत्रण आदि द्वारा आध्यात्मिक अनुशासन का पालन करना जरूरी है, जिसका समर्थन युंगीय परम्परा में भी पाया जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में श्री परशुराम साधक की भूमिका पर पहुँचने के पश्चात् ही गुरु श्री दत्तात्रेय के पास पहुँचे थे, किन्तु राजकुमार हेमचूड़ साधक की स्थिति तक पहुँचने के पूर्व ही अपनी पत्नी द्वारा यह समझ चुके थे कि परस्पर सहचारी विरोधी वृत्तियों तथा कल्पनाजनित अतिरंजित भावना से युक्त इन्द्रियजन्य क्रियाकलापों में कोई चिरस्थायी आनन्द, सुख, तृप्ति, सन्तुष्टि तथा सार नहीं है अतः इस प्रकार की अनुभूति होने पर जब राजकुमार ने स्वयं यह प्रश्न उठाया है कि 'शुद्ध तथा अबाधित आनन्द कहाँ है ? तब इस

प्रश्न मात्र से चतुर राजकुमारी ने समझ लिया कि राजकुमार अब सच्चे साधक की भूमिका पर पहुँच चुका है अतः उसने उसको आत्मज्ञान की दीक्षा के लिये उपयुक्त पात्र समझ कर तत्काल उसको जीवन की गहनतम समस्याओं के प्रति सक्रियरूप से विचार करने के लिये प्रवृत्त किया।

साधक की प्रथम प्रारम्भिक भूमिका के पश्चात् आत्मदर्शन की दीक्षा के हेतु द्वितीय स्तर प्रारंभ होता है। इस स्तर पर विदुषी एवं चतुर राजकुमारी ने एक दृष्टान्त के द्वारा मन अथवा चित्त के क्रियाकलापों की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए राजकुमार को समझाया कि किस प्रकार हम अपने सच्चे स्वरूप की अज्ञानता के फलस्वरूप झूठी आकांक्षाओं के शिकार बनते हैं और पाशविक स्तर के सुख के पीछे भटकने के लिये बाध्य होते हैं। इस तात्विक विवेचन द्वारा राजकुमार हेमचूड़ के अन्तर में निराशा तथा असहायावस्था की अनुभूति हुई और उसने तब सच्चा आनन्द क्या है? इस प्रकार का मूलभूत प्रश्न उठाया। इस मौलिक प्रश्न के उत्तर में विदुषी राजकुमारी ने उसे समझाया कि आत्मा के अज्ञान के कारण ही मानव दुःखग्रस्त होता है, अतः इस मूल प्रश्न के समाधान के लिए व्यक्ति को स्वयं आँख खोलकर तथा जागरूक रह कर इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न के मूल स्रोत अर्थात् आत्मामें ही तलाश करना चाहिये। क्योंकि प्रश्न आत्मा से ही उठा है और उसका प्रत्युत्तर भी आत्मा में ही निहित है।

उपरोक्त ज्ञान तथ्य को राजकुमार भली भाँति हृदयगम कर सके, इस दृष्टि से उसने राजकुमार को एक सरलतम गुर प्रस्तुत किया कि वह मैं 'तथा' 'मेरा' शब्द का अन्तर समझने का प्रयत्न करे। राजकुमारी ने यह भी स्पष्ट किया कि शब्द 'मैं' तथा 'मेरा' के बीच मौलिक अन्तर (फर्क) है जो 'मैं' है वह 'मेरा' नहीं है और 'मेरा' 'मैं' से जुदा है। 'मैं' का अर्थ आत्मा है, और 'मेरा' ही अनात्मा, संसार चक्र है, अतः मैं अर्थात आत्मा की स्थिति के प्राप्तिहेतु अनात्मा संसार को छोड़ना ही चाहिये क्योंकि वह उससे भिन्न जाति का पदार्थ है। इस प्रकार राजकुमार स्वयं आत्मा के विवेचन को समझ सका।

इसके पश्चात् राजकुमार ने इस 'मैं' तथा 'मेरा' की कसौटी पर मनन करने का अभ्यास किया। इस प्रक्रिया के दौरान में उसको अपने व्यक्तित्व की तीन सतहों (स्तरों) का अनुभव हुआ। उसने यह सुस्पष्ट अनुभव किया कि यह 'मैं' अर्थात् 'आत्मा' के तीन स्तर हैं, जैसे—

(1) (स्थूल) शरीर स्तर अर्थात मन की जाग्रतावस्था।
(2) सूक्ष्म शरीर स्तर अर्थात् मन की स्वप्नावस्था, तथा
(3) कारण शरीर स्तर अर्थात् स्वप्नविहीन, गाढ़ निद्रावस्था अर्थात सुषुप्ति अवस्था।

उपरोक्त तीन सतहों तथा अवस्थाओं के कारण व्यक्ति यह अनुभव कर सकता है कि उसका शरीर है, उसके विचार हैं तथा उसकी कल्पना है—किन्तु वह स्वयं इन तीनों से परे है, अर्थात् मैं (आत्मा) न तो शरीर है, न विचार है और न कल्पना है। गहरी निद्रा में सब कुछ विस्मृत हो जाता है—यहाँ तक कि वह स्वयं भी खोया हुआ है इस प्रकार की प्रतीति करने लगता है। इस स्तर को राजकुमार भली भाँति नहीं समझ पाया अतः उसने अवचेतन के अंधकार में स्वयं का प्रक्षेपण करना प्रारभ कर दिया, फलतः उसका विरोधाभासी अनुभवों में उलझना पड़ा। इस कठिनतम स्तर पर राजकुमार यह नहीं समझ सका कि यह दृश्याभास विलीन की स्थिति है अथात यहाँ पर केवल द्रष्टा है किन्तु कोई दृश्य नहीं है। अन्यथा वह किस प्रकार अनुभव की निरन्तरता की व्याख्या कर पाता। यदि द्रष्टा निरन्तर नहीं हो तो उसको जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति की निरन्तरता का अनुभव किस प्रकार समझाया जा सकता है ? साधना की इस कठिनतम भूमिका पर पहुँचने के बाद साधकों के लिये गुरु सानिध्य अनिवार्य स्थिति है, क्योंकि केवल मात्र गुरु ही साधक को इस अंधकार-पूर्ण साधना घाटी से उबार सकते हैं तथा उसको आत्मज्ञान की अगली मंजिल तक ले जा सकते हैं। इस कसौटी की कठिनतम घड़ी में राजकुमारी प्रेमलता ने उन्हें परामर्श दिया कि वह कुछ समय के लिए परम सत्य की स्थिति के विषय में चिन्तन मनन स्थगित कर देवें, क्योंकि वह मन बुद्धि तथा इन्द्रियों से परे है तथा वह यह अनुभव करने की कोशिश करें कि मैं अर्थात् आत्मा ही जाग्रत अवस्था से लेकर स्वप्नावस्था के सभी दिखने वाले क्रिया कलापों का एक मात्र द्रष्टा (साक्षी) है और मैं ही इन सभी क्रियाओं के व्यापार को देखता, समझता तथा अनुभव करता है, तथा बगैर 'मैं' अथवा आत्मा के इन बाह्य वस्तुओं को न तो देखा जा सकता है और न समझा अथवा अनुभव किया जा सकता है। सृष्टि की सम्पूर्ण नाटकावली केवल मात्र 'मैं' अर्थात आत्मा के प्रकाश में ही उजागर (दृष्टिगोचर) होती है, अर्थात 'मैं' अथवा आत्मा से ही सभी वस्तुएँ (जगत, सृष्टि) आलोकित हैं तथा सम्पूर्ण सृष्टि मैं की ही रचना है और यह 'मैं' 'आत्मा' ही जब विषयी (Subject) है तब इसको विषय (Subject) दृश्य अथवा पदार्थ वस्तु की तरह समझा ही नहीं जा सकता। अतः अहम् द्वारा आत्मा को देखने का प्रयत्न केवल मात्र कल्पना जनित प्रक्षेपण है जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। विदुषी राजकुमारी ने यह भी स्पष्ट किया है कि आत्म वस्तु के कारण ही ज्ञानी (जानने वाला) ज्ञान (जानना) तथा ज्ञेय (ज्ञान का विषय) की त्रिपुटी की रचना होती है जिसके द्वारा मन तथा मनसा रचित वस्तुओं का सन्बन्ध समझा जा सकता है। विदुषी राजकुमारी ने सर्व प्रथम विश्लेषण क्रिया तथा विवेक के आधार पर मन तथा मन से सृजित जगत के भेद तथा पृथकत्व

को सुस्पष्ट किया तथा भेद और पृथक-पृथक स्थितियों को आत्मा को इकाई में लीन हो जाना बतलाया है, क्योंकि सर्वत्र सर्वव्यापक आत्मा की ही एक मात्र सही स्थिति है। अर्थात् मन तथा मनसा जगत की मूलतः कोई अलग स्वतंत्र सही स्थिति नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण स्थितियों का एकमात्र आधार केवलमात्र आत्मा है, जो एक है, सर्वत्र है और सर्वव्यापक सही तत्व है। इस दृष्टि से मन और मनसा जगत दोनों स्थितियों का पृथकत्व आत्मा की इकाई में एकरस अभेद हो जाना माना गया है अतः सभी भेदभाव, अन्तर, पृथकत्व, आदि आत्मा की इकाई में स्थित होने से अभेद बन जाते हैं।

उपरोक्त विषय–बिन्दु को अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से यहाँ पर स्वप्न की प्रकृति तथा जाग्रत अवस्था की स्थिति के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत किया जाना उपयोगी हो सकता है। आमतौर से व्यक्ति स्वप्नावस्था तथा जाग्रतावस्था के अनुभवों के बीच के फर्क को भली भाँति समझता है (यद्यपि इन दोनों स्थितियों के अनुभवों की उनके अलग-अलग क्षेत्र में यथार्थवादी अथवा प्रतिभासित स्थितियों से इन्कार नहीं किया जा सकता)। इसके अलावा यह भी सुस्पष्ट है कि स्वप्नावस्था का अनुभव जाग्रतावस्था के अनुभव से जुदा किस्म का है। यह भी सुस्पष्ट है कि उपरोक्त दोनों किस्म के अनुभवों के बीच भी फर्क है क्योंकि स्वप्नावस्था का अनुभव जाग्रत व्यक्ति को नहीं हो सकता, तथा जागता हुआ व्यक्ति स्वप्न भी नहीं देख सकता। अर्थात जाग्रतावस्था का उदय (प्रारंभ) स्वप्नावस्था का अंत है। किन्तु उपरोक्त स्वप्नावस्था तथा जाग्रतावस्था के अनुभवों की तुरीयावस्था के अनुभवों से सर्वथा विलक्षण अलग ही स्थिति है। तुरीयावस्था के दौरान में विषयी द्रष्टा न तो किसी विषय-वस्तु का दर्शन करता है और न वह निरन्तर चल रहे सृजन क्रियाकलापों को अनुभव कर पाता है। इस अवस्था में विषयी आत्मा विषय-वस्तु-हीन स्थिति में रहता है और सनातन शान्त सृजनात्मक क्रिया निरन्तर चलती रहती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के अन्तर्गत विषयी द्रष्टा (आत्मा) केवल मात्र अपने ही साथ साक्षात्कार करता रहता है, अतः इस प्रकार के प्रक्रम को 'आत्मदर्शन' (आत्मसाक्षात्कार) की संज्ञा से सुस्पष्ट किया गया है। तुरीयावस्था में विषयी आत्मा सर्वव्यापक आत्मा का ही स्वतः अनुभूति करती है। आत्मा की इस दैविक अथवा दिव्य दृष्टि को 'पूर्ण चैतन्य' अथवा 'विशुद्ध चेतना' कहा जायगा इसको आत्मचेतना भी कहा जा सकता है, क्योंकि आत्मा और चेतना में कोई भेद ही नहीं है। अतः आत्मज्ञान, अथवा आत्म साक्षात्कार को 'दिव्य दर्शन' भी कहा जा सकता है।

आत्मदर्शन से अपने आपकी, स्वकी अथवी आत्मा की उपलब्धि होती है, तथा आत्मा का प्रवाह अहम् मन तथा क्रिया में—सर्वत्र निरन्तर होने लगता है एवं

सर्वव्यापक आत्मा के अलावा अन्य कुछ भी अवशेष नहीं रहता। आत्मदर्शी के लिये सर्वत्र सब जगह केवल मात्र आत्मारूप की स्थिति का ही अनुभव होता है। इस दृष्टिकोण के प्रकाश में कर्म-बन्धन और मोक्ष-प्राप्ति के लक्ष्य का भी कोई अर्थ नहीं रहता। आत्मज्ञानी के समक्ष कर्म तथा अकर्म का भेद ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों, अकर्मों का कारण आत्मा ही है और आत्मा के अलावा अन्य किसी की कोई सत्ता अथवा स्थिति ही नहीं है। जिस प्रकार समुद्र का विभाजन लहरों में होता है, तथा लहरों का समावेश शान्त सागर में हो जाता है, तथा लहरों तथा समुद्र में कोई तात्विक अन्तर नहीं है, क्योंकि समुद्र तथा लहरें वस्तुतः पानी ही है, इसी प्रकार कर्म और अकर्म तत्वतः केवल आत्मा की क्रियायें मात्र है। समुद्र में लहरें उठती बैठती हैं और अन्ततोगत्वा सभी लहरें समुद्र में ही विलीन होकर उसके साथ जल-तत्व होने से एकाकार हो जाती हैं, उसी तरह मानव जीवन में कर्म, अकर्म घटित होते रहते हैं, और इनके बीच आत्मा की इकाई के प्रकाश में कोई फर्क नहीं है, क्योंकि सभी कर्म, अकर्म का उद्भव स्थिति तथा विलय शाश्वत, सनातन, सर्वव्यापक आत्मा ही में होता रहता है अतः जब आत्मा में ही सभी परस्पर विरोधी सहचारी वृत्तियों का एकीकरण हो जाता है तब इस दृष्टि से किसी भी कर्म को करने अथवा किसी भी कर्म से बचने की झझट तथा परेशानी का कोई महत्व ही नहीं है क्योंकि सभी कुछ घटनायें स्वतः घटित होती ही रहती हैं, जिनमें प्रवृत्त होने अथवा बचे रहने के बाबत मानवीय यत्न विवेक का कोई अर्थ ही नहीं है।

इस प्रसंग के अन्तर्गत व्यक्ति विशेष की किसी तत्कालीन समस्या के समाधान के बाबत विवेचन को प्रारम्भ किये बगैर, यह सुस्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति को जब आत्मज्ञान हो जाता है, तब आत्मदर्शन से स्वतः उसकी सभी समस्याओं का भी योग्य प्रकार से समाधान निकल आता है। आत्मज्ञानी के सम्मुख तो कोई समस्या ही नहीं रहती अतः उसके लिये समाधान या हल ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता ही नहीं हो सकती। समस्याओं का उद्गम स्थल अहम्भाव है। अहम् के कारण ही मानव को समस्याओं के चक्कर में फँसना पड़ता है तथा उनके सम्यक् समाधान के लिये परेशानी में इधर उधर भटकना पड़ता है किन्तु आत्मदर्शन होते ही व्यक्ति का अहम् भाव ही जब नष्ट हो जाता है, तब आत्मदर्शी के लिये समस्याओं के समाधान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मज्ञान वह प्रकाश है जिसके उदय होने पर अहम्भाव तथा अहम् प्रसूत समस्यायें स्वतः नष्ट हो जाती हैं जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अंधकार, अस्पष्टता तथा अंधकार जनित भ्रान्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। अतः आत्मज्ञान-प्राप्ति के दौरान में गुरु-शिष्य के परस्पर विचार विनिमय द्वारा शिष्य की अहम् जन्य समस्याओं का गुरु द्वारा योग्य प्रकार से समाधान कर दिया जाता है

तथा शिष्य को उसके अहम् भाव से पहिले मुक्त कर दिया जाता है, तभी शिष्य आत्म-ज्ञान के प्रकाश में अपने को स्थित रखने की सामर्थ्य प्राप्त कर पाता है। साधक का अहम् भाव गुरु-कृपा तथा गुरु-सानिध्य से जब नष्ट हो जाता है तब वह सर्वत्र सर्वव्यापक परमसत्ता आत्मा की स्थिति का अनुभव करने लगता है, तथा तब उसके लिये किसी समस्या के समाधान की कोई जरूरत ही नहीं रहती।

अब यहाँ पर 'आत्मदर्शन प्रक्रम' को निम्न प्रकार से सुस्पष्ट किया जाना उचित है :-

आत्मज्ञान-प्राप्ति-हेतु सर्व प्रथम व्यक्ति को अन्तर्मुखी होकर 'आत्मा' तथा 'अनात्मा' के अन्तर को विवेक के साथ भलीभाँति समझना चाहिए। तथा उसको आत्मभाव को स्वीकार एवं अनात्म भाव का त्याग करना चाहिए। साधक के लिये यह अनिवार्य है कि वह यह समझ सके कि आत्मा क्या है, तथा कौन-सी वस्तुयें आत्मा नहीं हैं। इस प्रकार के भेद को समझने के लिये साधक में अध्ययन, बुद्धि, मनन तथा विवेक की सहज अपेक्षा की जाती है। इस प्रकार के विवेचन तथा विश्लेषण के लिए सर्वोपरि साधक को लगनशील अभिवृत्ति का उचित विकास होना जरूरी है, तभी वह बाह्य संसार की वस्तुओं के मोह से ऊपर उठ सकेगा। द्वन्द्व में फँसा व्यक्ति वस्तुस्थिति को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाता। प्रारम्भिक स्तर पर साधक तसवीर के केवल मात्र एक ही पहलू को अच्छा तथा बुरा के पैमाने पर देख सकेगा और शुरू शुरू में वह वस्तु की आन्तरिक इकाई को समझ ही नहीं सकेगा। इस स्तर पर विवेचन के लिये साधक को 'मैं' तथा 'मेरा' की कसौटी का व्यवहार करने का मार्ग दर्शन दिया जाना चाहिये, ताकि वह मैं और 'मेरा' की इस कसौटी पर विश्व की वस्तुओं, क्रियाओं, कर्मों का विवेकपूर्वक विश्लेषण कर सके, तथा वह गम्भीरता पूर्वक परीक्षण करते हुए 'मैं' का तो चुनाव करे तथा 'मेरा' को इन्कार कर सके। आगे जाकर आत्म दर्शन के साधक को इस 'मैं' और 'मेरा' की कसौटी का प्रयोग शारीरिक भौतिक स्तर से प्रारम्भ कर क्रमशः मानसिक, मनसम्बन्धी स्तरीय वस्तुओं तथा अन्त में जाकर इसका उपयोग सूक्ष्म स्तरीय क्षेत्रों पर करना चाहिये,- तथा इस परीक्षण द्वारा प्राप्त अनुभव के आधार पर सभी वस्तुओं, क्रियाओं में निहित इकाई पर ध्यान देना चाहिये। इस प्रक्रम के माध्यम से ही साधक अन्त में जाकर यह अनुभूति प्राप्त कर सकेगा कि सभी वस्तुओं; कियाओं में निहित यह इकाई ही केवल मात्र सर्वोच्च तत्व है जो परम सत्ता है अतः गृहणीयहै। इसको 'आत्मा' की संज्ञा में जाना सकता है, जिसकी स्थिति सर्वत्र सर्वव्यापक, सनातन तथा नित्य है। तभी आत्मदर्शी यह अनुभव कर सकेगा कि सर्वत्र केवल आत्मा की ही मात्र स्थिति तथा एक मात्र सत्ता है, तथा आत्मा ही विश्व की दस सहस्त्र वस्तुओं में व्याप्त एक मात्र सत्य है।

साधना के प्रथम चरण में गुरु-सान्निध्य से साधक को विवेकपूर्वक भौतिक शरीर के माध्यम से प्राप्त वस्तुओं के यथार्थ सम्बन्धों को समझने में बड़ी मदद मिलती है। द्वितीय चरण में जाकर इसी समस्या को उच्चतर सूक्ष्म स्तर पर समझने में मदद मिलती है। गुरु-कृपा के फलस्वरूप साधक इस द्वितीय चरण में अपने चित्तीयस्तर की क्रियाओं के व्यापार को भलिभाति समझने लगता हैं तथा वह अपने सहज प्रवृत्ति जन्य मोहात्मक सम्बन्धों से ऊपर उठ कर (मनोवैज्ञानिक स्तर पर) अर्न्तदृष्टि प्राप्त कर लेता है जिसके द्वारा वह जगत तथा अपने मनोवैज्ञानिक सम्बन्धों को हृदयंगम कर सकता है। संसार अथवा जगत के सम्बन्धों का ज्ञान वह मन अथवा चित्त के माध्यम से प्राप्त करता है, अतः इस स्तर पर पहुँचने पर साधक के लिये वस्तुओं को सही परिपेक्ष्य में समझने के लिये उसको अपनी चित्तीय स्थिति का भी ज्ञान सम्पादित किया जाना जरूरी हो जाता है-और इस स्तर पर भारतीय चिन्तन-विवेचन में गुरु-कृपा का विशेष महत्व स्वीकारा गया है। किन्तु युंगीय पद्धति के अनुसार यह मान्यता है कि भौतिक शारीरिक इन्द्रियों का नियंत्रण मन द्वारा तथा मन का नियंत्रण सूक्ष्मतर प्रतिभा या बुद्धि के द्वारा किया जाता है। अतः बुद्धि को निर्णय-विवेक-क्रिया (जजिंग एक्टीविटी) भी कहा गया है। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिये कि निर्णय क्रिया का आधार अहम्भाव (इगो) है जिसको सामान्यतः 'मैं' की संज्ञा से पुकारा जाता है। यह सर्व विदित सत्य है कि इस 'मैं' अथवा अहम् के अभाव में किसी भी प्रकार की 'निर्णय क्रिया' की सम्भावना नहीं है। अतः इस स्तर पर पहुँचने के बाद साधना पथ की 'गहन अवचेतन की घाटी' के अन्दर साधक को यात्रा करनी पड़ती है। गाढ़ निद्रा के दौरान में अहम् तथा उसके बाह्य वस्तु के साथ के सभी सम्बन्ध समाप्त रहते हैं, फिर भी व्यक्ति गाढ़ निद्रा के पूर्व तथा बाद की स्थितियों की शृंखला (निरन्तरता) के बनी रहने का अनुभव करता है। अहम् चेतना के दृष्टिकोण के अनुसार तो गाढ़ निद्रा के दौरान में केवल मात्र अंधकार युक्त अचेतन पाया जाता है, अतः इस अन्धकार युक्त गाढ़ निद्रा से साधक को उसके प्रति आमुख करने–जगाने हेतु भारतीय चिन्तन में गुरु का बड़ा महत्व माना गया है? गुरु ही साधक को अचेतन की अंधकारपूर्ण घाटी से निकालकर-उसको जगाकर साधना-पथ पर अग्रसर करते हुए उसको उसके 'स्व' से साक्षात्कार कराने में मदद देता है। इस प्रक्रिया के दौरान में साधक का विवेक संगत होकर उसके अहम् भाव से पृथक् होकर आत्मा के प्रति आमुख तथा जागृत कराने का महत्वपूर्ण कार्य केवल योग्य गुरु की मदद से ही संभव हो सकता है। गुरु ही साधक को अंधेरे से निकालकर उसको स्व (आत्मा) के प्रति जागृत करता है। जब तक साधक अहम्भाव से देखता था तब तक वह सर्वथा भिन्न प्रकार से अनुभव करता

था, तबतक उसकी दृष्टि खण्डीय होने से उसको भिन्नत्व का भास होता था, किन्तु जब गुरु-कृपा के फलस्वरूप साधक अपने अहम् भाव से मुक्त हो जाता है तब वह स्वय को आत्म रूप से पहिचान लेता है, और उसको आत्मा की इकाई के कारण सर्वत्र 'एकत्व' के प्रकाशमान आनन्द की सहज, अनुभूति हो जाती है। अहम् भाव के कारण वह केवल मात्र चेतना के दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब ही देख पाता था, जैसा कि वह बाल्यावस्था से अबतक जानता रहा है। अतः जब उसको छाया का दर्शन नहीं हो पाता तब वह अपनी स्थिति को ही इन्कार कर बैठता है। इस प्रकार मानव को अपने अस्तित्व के अभाव का अनुभव स्वप्न-हीन निद्रा तथा सामान्य जाग्रतावस्था में प्राय: होता है, किन्तु उसको कभी भी जीवन श्रृंखला के लुप्त हो जाने का कभी कोई अनुभव नहीं हुआ है[1]।

अतः इस प्रकार की विवेचन से चेतना स्तर पर अहम् भाव पक्ष तथा पृष्ठ-भूमिगत विषय वस्तुओं के सम्बन्ध का सम्यक परिचय प्राप्त होता है अतः प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करने वाले दर्पण में हेराफेरी किये बगैर भी हम सही मुख तथा छाया बिम्ब की स्थिति तथा अभाव को हृदयंगम कर सकते हैं। क्योंकि यदि दर्पण को हटाया नहीं जाय तो मुख तथा उसको प्रतिछाया दोनों दीख भी सकती है तथा नहीं भी दीख सकती है। इस प्रकार मुख, छाया तथा देखने की त्रिपुटी बोधगम्य हो सकती है जो कभी दिखाई दे जाती है तथा कभी छिपी रह जाती है। जिस प्रकार समुद्र में असंख्य लहरें उठती बैठती रहती हैं उसी तरह मुख, प्रतिबिम्ब तथा दर्शन की त्रिपुटी निरन्तर क्रिया की तरह सनातन काल से चली आ रही है।

गुरु मार्ग के अन्तर्गत प्रथम स्तर पर साधक को स्थूल शरीर तथा तत् सम्बन्धी

---

1 मैं यह करता हूँ' तथा' मैं यह करने की जानकारी रखता हूँ' के अर्थों में बहुत अधिक अन्तर है। उपरोक्त दोनों वाक्यांश लगभग परस्पर विरोधी अर्थों में हैं। अतः प्रथम वाक्यांश में जहाँ अवचेतना का प्राधान्य है वहाँ द्वितीय वाक्यांश में चेतन की प्रधानता है। यह विरोधाभास तभी बोधगम्य हो सकता है, जब कि हम यह अनुभव कर लें कि प्रथम वाक्यांश में ऐसा कोई चेतन अंश नहीं है, जिसके सम्बन्ध में हमें सम्पूर्णतः चेतन की स्थिति की स्थापना के लिये दृढ़तापूर्वक आग्रह करने की अनिवार्यतः आवश्यकता महसूस हो तथा इसके लिये सम्पूर्ण चेतना तथा मानव को पूर्णता स्थापित करने हेतु जरूरत का अनुभव हो। अतः प्रथम वाक्यांश के प्रसंग में हम इस विरोधाभास में ग्रस्त होने के लिये बाध्य हैं कि उसमें कोई चेतन अंश नहीं है तथा दूसरे रूप में उसका यह भी अर्थ नहीं है कि वह अन्य प्रकार का अवचेतन अंश है।

स्थितियों का विवेक पूर्वक अध्ययन कराया जाता है, इसके पश्चात् द्वितीय स्तर पर उसको सूक्ष्म दृष्टि से इनके सम्बन्धों का परीक्षण किये जाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। इस प्रक्रिया से साधक को अपनी चित्तीय स्तरीय मूल अभिवृत्तियों तथा मूल क्लेशों की जानकारी प्राप्त होती है और साधक को सूक्ष्म स्तर पर धरित बन्धन के कारणों का ज्ञान होता है। निःसन्देह मन के माध्यम से चित्त स्तरीय बाह्य जगत की जड़ स्थूल वस्तुओं का परिचय होता है। व्यक्ति बाह्य जगत को इन्द्रियों से तथा इन्द्रियों के व्यापार को मन से, तथा मनोव्यापार को बुद्धि विवेक से अहम् के माध्यम से समझता है। उसको यह भी अनुभव हो जाता है कि बिना अहम् संयोग के बुद्धि भी पंगु है और कोई कार्य करने के लिए असमर्थ है। इस चेतन स्तरीय पूर्व जानकारी के पश्चात् हा व्यक्ति को अवचेतन स्तरीय खोज को प्रारम्भ करना पड़ता है। स्वप्न तथा सुषुप्ति अवचेतन स्तरीय व्यापार हैं। गाढ़ निद्रा तथा सुषुप्ति अवस्था में चित्त तथा सभी मनोव्यापारों के अन्त हो जाने का अनुभव किया जाता है फिर जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था के अनुभवकर्ता की निरन्तरता बनी रहती है, अर्थात् स्वप्न समाप्त होने पर 'मैंने स्वप्न देखा था' इसका ज्ञान बना रहता है तथा गाढ़ निद्रा एवं सुषुप्ति अवस्था में भी मेरी गाढ़ निद्रा या सुषुप्ति अवस्था समाप्त हो गई है, का अनुभव होता है, अर्थात् जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं की निरन्तरता है—जिसका एक ही अनुभवकर्ता (द्रष्टा) है। भारतीय गुरु ही इस निरन्तरता के अनुभवकर्ता (द्रष्टा) को इस तथ्य का समझाने तथा उससे साक्षात्कार कराने की क्षमता रखता है।

अहम् के नष्ट होने का अनुभव केवल गाढ़ निद्रा या सुषुप्ति अवस्था में ही नहीं होता, अपितु जाग्रतावस्था में भी किया जा सकता है। किन्तु उपरोक्त दोनों अवस्थाओं में अनुभव की निरन्तरता बनी रहती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहम् दृश्य सापेक्ष है, किन्तु चेतना निरन्तर है। अर्थात चेतना के दर्पण में बिम्ब-प्रतिबिम्ब आते जाते, उदय-विलय होते रहते हैं किन्तु दर्पण की अपनी स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है। जिस प्रकार सागर में अनन्त ऊँची नीची हजारों लहरों की हलचलों के बावजूद भी सागर गंभीर शान्त बना रहता है, उसी तरह चेतना के दर्पण में मानव के क्रिया-कलापों का व्यापार चलते रहने पर भी अनुभवकर्ता द्रष्टा की निरन्तरता (सनातनत्व) बनी रहती है।

मुख, प्रतिबिम्ब या प्रतिच्छाया तथा दर्पण की त्रिपुटी के आत्म अनुभव के पश्चात् ही साधक आत्म साक्षात्कार की दूसरी मंजिल पर पहुँच कर अनेकत्व में एकत्व तथा भेद में अभेद की इकाई को समझने का बोध कर पाता है। इस उच्चतर भूमिका पर वह केवल विषय-विहीन (वस्तु-विहीन) विषयी (द्रष्टा) होता है जो

शुद्ध चैतन्य है जहाँ पर अहम् तथा मन एवं मन की सभी इन्द्रियों, क्रियाओं तथा वस्तुओं का सर्वथा लोप हो गया है। यह स्थिति 'सत् चित्त आनन्द' अवस्था है, जिसकी बुद्धि अथवा नैतिकता के आधार पर किसी भी प्रकार की व्याख्या अथवा परिभाषा किया जाना सभव नहीं है। आत्मा की सत्चिदानन्द स्थिति में कहीं पर भी चुनाव—स्वीकृति-अस्वीकृति की दुविधा अथवा किसी भी विशेष ध्येयप्राप्ति का कोई प्रश्न ही नहीं रहता है। सत्चिदानन्द की स्थिति तो सर्वत्र सर्वव्यापक अवस्था है। जिस प्रकार एक द्रष्टा पानी के प्रपात में ऊँचे तथा नीचे स्तर को देखते हुए भी प्रपात को एक अखण्ड अभेद जलीय पुंज की तरह स्वीकार करता है उसी तरह आत्मा की सर्वव्यापक इकाई के प्रकाश में न तो कहीं ऊँचाई है और न कहीं नीचा स्तर है; क्योंकि सर्वत्र ऊपर और नीचे केवल मात्र आत्मा की ही स्थिति है जो ऊपर भी वही है और नीचे भी उसी अभेद एक आत्मा की निरन्तर व्याप्ति है।

अहम् के द्वारा वस्तु-विषय दृश्य (इदं) की तरह जानी जाती है और अहम् के कारण ही मानसिक व्यापारों का बोध होता है। अतः स्वःसाक्षात्कार के प्रक्रम के अन्तर्गत सत्य की खोज के इस अन्तिम चरण में भी आत्मा स्वयं को विषय की तरह अथवा चेतना की स्थिति की तरह समझने के स्वभाव को चालू रखने का प्रयत्न करता है क्योंकि इस प्रकार पुराने स्वभाव से चिपके रहने का उसे अभ्यास रहा है, किन्तु अबतक के इस पूर्व स्वभाव में जकड़े रहने का कोई अर्थ ही नहीं है। आत्म साक्षात्कार की इस अन्तिम विकसित अवस्था में आत्मदर्शन प्रक्रिया का प्रारंभ ही तब होता है जब आत्मा वस्तु तथा बाह्य जगत् को देखने का ढंग ही छोड़ दे। अर्थात् सम्पूर्ण सर्वत्र बाह्य स्थितियों का निषेध करने के पश्चात् ही आत्म-बोध की अन्तर्मुखी दृष्टि का उदय होता है और दृश्याभास से मुक्त आत्म दृष्टि से ही चेतन का प्रकाश होता है, जिसके द्वारा आत्मा स्वयं के सही स्वरूप को सम्यक प्रकार से समझते हुए उसके साथ अपना सहज अभेदत्व या तादात्म्य स्थापित कर पाता है। आत्मसाक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होने की प्रक्रिया में अब तक निःसन्देह अहंभाव एक साधन रहा है, किन्तु स्व-साक्षात्कार का अनुभव करने के लिए चिर पुरातन साधन अहं को नष्ट किया जाना जरूरी है। जब अहम् दृष्टि ही समाप्त हो जायगी, तभी आत्मदृष्टि का उदय हो सकता है। आत्म-दर्शन के लिए सहज आत्मा का ही प्रकाश हो जाता है, क्योंकि आत्मा ही स्वयं प्रकाश स्थिति है, अतः आत्मसाक्षात्कार की सम्यक अनुभूति हेतु अहम् की स्थिति अथवा किसी अन्य प्रकाश के माध्यम अथवा उपकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। अतः आत्मबोध की उपलब्धि हेतु अहम् के पुराने उपकरण को छोड़ते हुए, अन्यत्र वस्तुओं को देखने की क्रियाओं को समाप्त किया जाना चाहिए जिससे अहम्-वस्तु-विहीन, विशुद्ध आत्मदृष्टि उपलब्ध हो सके, ताकि स्वयं प्रकाशवान्

आत्मा के प्रकाश में केवल स्व: को खोलने मात्र से स्वयं का सही स्वरूप जाना जा सके, जिसको 'आत्मदर्शन, 'स्व:साक्षात्कार' अथवा 'आत्मबोध' कहा जा सकता है।

मानव अपने सही स्वरूप से जब तक अनजान रहता है तब तक वह अज्ञान के फलस्वरूप अपने स्वयं को खण्डमय तथा अलग अलग स्थिति वाला मान बैठता है, जब कि वह अखंड सम्पूर्ण एकरस इकाई है। अपनी सम्पूर्ण इकाई को अज्ञान-वश होकर भूल जाना तथा स्वयं को खण्डवस्तु मान बैठना हो अहम् भाव है, जिसको पातञ्जलि योग सूत्र में 'अस्मिता' कहा गया है। अस्मिता के फलस्वरूप मानव भेद-भ्रम से ग्रसित होकर राग-द्वेष की उलझन में पड़ जाता है, तथा इस कारण वह कुछ चीजों के चुनाव में तथा कुछ वस्तुओं से बचने के चक्कर में परेशान हो जाता है, और इन प्रपंचों के माध्यम से वह अपनी एक पृथक् स्वकीय सत्ता को समय के अन्तराल में बनाये रखने की चेष्टा में निरन्तर लगा रहता है, जिसको 'अभिनिवेश' कहा गया है। अज्ञान ग्रस्त मानव आँख बंद कर अपनी इच्छाओं के पीछे भागता है और यह सोचने लगता है कि वस्तुओं से इच्छायें पूर्ण हो सकती हैं। यह समस्त' व्यवहार अज्ञान-जनित मन की कारगुजारी है इसको 'वृत्ति अनुसरण' कहा जाता है। क्योंकि मानव इस अज्ञान के वशीभूत होकर एक को प्यार करता है, तथा दूसरे के प्रति घृणा प्रदर्शित करता है अत: वह विरोधाभासी वृत्तियों के चक्कर में पड़ जाता है, जिसको 'मायाग्रस्त' कहा गया है। स्वयं को पहिचाने बिना अज्ञानवश वृत्तियों के प्रपंच में पड़ना ही युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत 'एनी या-एनीमस-क्रीड़ा' कही जाती है। इस स्तर पर केवल विश्लेषण तथा विवेक के प्रक्रम द्वारा ही चेतन इस खिलवाड़ को समझ कर माया से मुक्त हो सकता है तथा चैतन्य आत्मा को यह अनु-भव हो सकता है कि क्रियाओं में कहीं पर भी कोई विरोधाभास नहीं है तथा सभी नैतिक तथा अच्छे बुरे कर्मों के सम्बन्ध में आत्मा की दृष्टि में कोई अन्तर अथवा विरोधाभास ही नहीं है। आत्मज्ञान का प्रयोजन माया अथवा वृत्तिक्रीडा को रोकना नहीं है, अपितु आत्मज्ञान के प्रकाश से हो वस्तु स्थिति की यथार्थ जानकारी प्राप्त (करना) है जिसके अन्तर्गत सभी भेद और अन्तर आत्मज्ञान में घुल-मिलकर अभेद तथा एकाकार हो जाते हैं।

आत्मानुभूति के पश्चात् माया का अनुभव माया की तरह अथवा वृत्ति का अनुभव हलचल की तरह नहीं होता, अपितु माया तथा वृत्तियों का अनुभव सृजनशील स्वतंत्रता अथवा सर्वत्र आत्मक्रीड़ा की की तरह होता है, अत: इस स्तर पर आत्मसाक्षात्कार होने पर एनी या-एनीमस जनित सभी समस्याओं तथा छायाओं का समाधान हो जाता है, तथा सभी समस्याए

तथा छायाएँ केवल मात्र भ्रान्त नजर आती हैं जिनके भास का कारण एक मात्र अज्ञान ही ठहरता है। इसलिये भारतीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत माया अथवा अज्ञान जनित समस्याओं को कोई महत्व नहीं दिया गया है[1]।

युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत एनी या ऐनीमस, छाया इत्यादि पृथक-पृथक स्तरों की समस्याओं के समाधान का ध्यान रखा गया है किन्तु भारतीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न स्तरों के बजाय सीधे मूल कारण (अज्ञान) के ही अवच्छेदन पर विचार किया गया है। भारतीय चिन्तन पद्धति के अनुसार समय को समस्या को अर्थात् द्वन्दों को उसी स्तर के सन्दर्भ में नहीं समझा जा सकता, क्योंकि इससे एक ही स्तर पर समय के फलस्वरूप एक से अधिक समस्याओं का उद्भव हो सकता है, जिनका यकायक समाधान ढूँढ़ा जाना कठिन हो जाता है, इसी तरह अहम् के दृष्टिकोण से भी विभिन्न समस्याओं का एक साथ हल निकाला जाना संभव नहीं है। अतः जीवन की सभी समस्याओं के समाधान के लिये 'समय' तथा अहम्' के द्वैतभाव से ऊपर उठना जरूरी है, तथा आत्मा को कालातीत स्थिति में प्रतिष्ठित करते हुये तत्कालीन सभी समस्याओं के खिलवाड़ को समझना जरूरी है। इस प्रकार भारतीय तथा पूर्वीय चिन्तन के अनुसार अनुभवातीत स्तर पर ही समस्याओं का हल खोजा जा सकता है, जिसको 'रहस्यवादी परम्परा' की भूमिका कहा जाता है। भारतीय रहस्यवादी भूमिका के अन्तर्गत अवचेतन की अर्न्तवस्तु 'आर्कोटाइप' को समाप्त करने के लिये कोई आग्रह नहीं किया गया है, किन्तु इस भूमिका तक पहुँचने लिये साधक को अवचेतन से परे उठने के लिये प्रोत्साहित किया गया है।

भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुसार जो मानव द्वैतभाव से ऊपर उठ गया है, उसके सम्मुख न तो कोई समस्या ठहरती है और न वह संघर्षग्रस्त रहता है। द्वैतभाव से ऊपर उठा हुआ साधक आत्मदर्शन के पश्चात् भी इस भूमिमण्डल पर सामान्य जीवन यापन कर सकता है किन्तु ऐसे व्यक्ति को यहाँ पर 'स्थितप्रज्ञ' जीवन्मुक्त कहा जायगा, अर्थात् इस मानव की स्थिति प्रज्ञा (आत्मज्ञान) में है। स्थितप्रज्ञ की स्थिति प्राप्त होने पर भी वह मानवीय जीवन व्यतीत करता है किन्तु इस स्तर के साधक का जीवन अधिक सम्पूर्ण तथा अधिक प्रयोजनीय रहेगा। सामान्यतः उसका जीवन-व्यवहार औसत मानवों की तरह दिखेगा, किन्तु केवल स्थित-प्रज्ञा-सम्पन्न व्यक्ति ही उसके जीवन का मर्म समझ सकता है, वही यह जानकारी रखता है कि वह क्या कर रहा है। इस पुस्तक में इस श्रेणी के आत्मदर्शिओं के

---

1 युंग सी० जी० युगः दि साइकोलोजी आफ इस्टर्न मेडीटेशन, साइकोलोजी एण्ड रिलीजन पृष्ठ 572, और 'के' पाल लंदन। 1958

आन्तरिक जीवन की झाँकिया प्रस्तुत की गई हैं। इस प्रकार के साधकों के बाह्य जीवन-व्यवहार में यद्यपि भेद तथा अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं फिर भी वह सभी भेदों में एकत्व की स्थापना करते हुये सम्पूर्णत्व का अनुभव करता है, और इसलिये त्रिपुरा रहस्य पुस्तक में इस उच्चतम श्रेणी के आत्मदर्शी के लिये बन्धन तथा मोक्ष की समस्याओं के विवेचन को भी सारहीन तथा निरर्थक माना गया है। स्थितप्रज्ञ की प्रत्येक क्रिया वही होती है जो योग्य है क्योंकि उसके लिये सर्वत्र आत्मा की ही एक मात्र स्थिति अथवा सत्ता है। इसी सर्वात्मा को भगवती त्रिपुरा (शुद्ध चैतन्य) कहा गया है, जिसकी सहज सृजनशील स्वतंत्रता से इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना हुई है, तथा जो अपनी ही मौज (लीला) के कारण अज्ञान के बन्धन से ग्रस्त भी होती है और प्रयत्न द्वारा पुनः मोक्ष प्राप्त करती है। अतः भगवती त्रिपुरा की स्वतः लीला के अनुसार बन्धन तथा मुक्ति का यह क्रम अनादि काल से एक स्वतत्र कौतुक की तरह निरन्तर चल रहा है[1] और इस बन्धनमुक्ति का जब यह पहिया बराबर चल ही रहा है तब उसकी किस ताड़ी को ऊँचा तथा किस ताड़ीको नीचा माना जाय ? इसलिये इस सतत चक्कर में सनातन स्थायित्व को अनुभव करने के लिये इस वर्तुल को एक ही समझना चाहिये और आत्मा की इस इकाई में ही सभी भेद, परिवर्तन तथा समस्याओं का स माधान असीम दृढ़ शान्ति में हो जाता है, क्योंकि सर्वत्र सर्वव्यापक आत्मा के अलावा न अन्य कोई स्थिति है और न कोई भेद, अन्तर अथवा हलचल है। अतः सर्वत्र असीम शान्त सर्वव्यापक आत्मा ही है।

त्रिपुरा रहस्य (ज्ञानखण्ड) में आत्मसाक्षात्कार के बाद की स्थिति पर अधिक प्रकाश डाला गया है। आत्मसाक्षात्कार के उपरान्त ज्ञानियों-ब्रह्मलीन पुरुषों की तीन श्रेणियाँ पायी जाती है, जिनके बाह्य और आन्तरिक जीवन व्यवहार में अन्तर पाया जाता है। यद्यपि सभी श्रेणियों के आत्मज्ञानियों में आत्मा के साथ तादात्म्य की स्थिति पायी जाती है। प्रथम कोटि (श्रेणी) के आत्मज्ञानी वे हैं, जिन्होंने आत्मा के साथ तादात्म्य एकत्व) स्थापित कर लिया है और जिनके लिये सभी प्रकार के बाह्य तथा आन्तरिक भेदों का नाश हो चुका है और वे जो सहज रूप से आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुये आत्मलीन जीवन व्यवहार करते हैं। दूसरी श्रेणी के आत्मज्ञानियों में वह साधक आते हैं, जिन्हें आत्मसाक्षात्कार तो हो चुका है फिर भी जिनके कर्म यदाकदा बाधा स्वरूप उनके जीवन में उदित होते रहते हैं, और

---

1 त्रिपुरा रहस्य (ज्ञान खण्ड) अध्याय 20 पृष्ठ 46-47, अध्याय 22।104-105
स्वमायया स्वमज्ञात्वा संसरन्ती चिरादहम्।
भूयो विदित्वा स्वात्मानं गुरोः शिष्यपदं गता,
नित्यमुक्ता पुनर्मुक्ता भूयो भूयो भवाम्यहम् !!

उन्हें आत्मलीन स्थिति को बनाये रखने के लिये कर्म बाधाओं से ऊपर उठने की चेष्टा के प्रति जागरूक रहना पड़ता है। तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत आनेवाले आत्मज्ञानियों का सामान्य जीवन एक पागल की तरह प्रतीत होता है और इस तीसरी श्रेणी के आत्मदर्शी को केवल मृत्यु के पश्चात् ही मोक्ष प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मसाक्षात्कार का तात्पर्य किसी विशेष वस्तु की बुद्धि या इन्द्रियजन्य जानकारी नहीं है, अर्थात् आत्मज्ञान का अर्थ किसी अन्तर्वस्तु का ज्ञान नहीं है अपितु आत्मज्ञान का अर्थ अहम् का विलय और माया की क्रीड़ा को समझते हुए आत्मा के साथ हमारी तादात्म्य की चेतना का अनुभव है। इस प्रकार की अनुभूति के लिये मानसिक उपकरणों का ज्ञान निसन्देह जरूरी है, किन्तु मनोवैज्ञानिक उपकरणों के ज्ञान का महत्व गौण ही है, क्योंकि प्रमुख महत्व तो आत्मा का ही है। जिससे सब कुछ जाना जाता है। इसलिये योग-साधना की अनेक प्रकार की पद्धतियाँ हैं, अनेक मार्ग हैं, जिनका वहाँ विवेचन प्रस्तुत किया गया है, यद्यपि योगसंगत सभी पद्धतियों का अन्तिम लक्ष्य केवल आत्म-साक्षात्कार ही स्वीकारा गया है।

आत्मज्ञान का अर्थ किसी अर्न्तवस्तु की जानकारी नहीं है अपितु आत्मज्ञान का तात्पर्य तो यह अनुभूति ही है कि आत्मा ही सर्वव्यापक चैतन्य है, और इसका स्वतः प्रकाश सनातन शश्वत रहा है, तथा रहेगा। केवल अहम् द्वारा ही अब तक भेद तथा रुकावटें आती रही हैं। इसलिये रहस्यवादियों द्वारा प्रायः यह कहा जाता है कि जो जानकारी अहम् द्वारा प्राप्त की गई है उसी को विस्मृत करने पर ही आत्मा का ज्ञान हो सकता है। अतः अहम् के दृष्टिकोण से आत्मा जो कि सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है, न तो जाना गया था और न उसको अहम् के माध्यम से कभी जाना भी जा सकता है। अतः आत्मदर्शन के लिये अहम् का मूलोच्छेदन किया जाना एक अनिवार्य स्थिति है। आत्मा ही द्रष्टा (विषयी) है, वही ज्ञाता है, अतः आत्मा वस्तु अथवा विषय हो ही नहीं सकता। विषयी आत्मा ही सर्वप्रकाश रूपवत स्वयं ज्योति है, जिसके द्वारा समस्त वस्तुयें (जगत) उजागर होती है। इसलिये आत्मा को सूर्य कहा गया है जो न तो प्रकाश जानता है और न उसे अंधकार की कोई जानकारी है किन्तु जब अहम् इस स्वयं प्रकाशमान आत्मा को जानने की कोशिश करता है, तब अवचेतन का केवल भास मात्र होता है और इस क्रम में जब अहम् समाप्त हो जाता है तभी आत्मा की अनुभूति होती है। अतः अहम् के माध्यम से आत्मा को जानने की चेष्टा निरर्थक रहती है तथा अहम् के द्वारा कभी भी आत्मसाक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

भारतीय चिन्तन के अन्तर्गत कर्मवाद के सिद्धान्त के प्रकाश में अवचेतन

की अन्तर्वस्तु (प्रकृति) के बाबत ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है, और उन्हों ने इस प्रसंग में एक सीमा तक इसको स्वीकारा भी है किन्तु अन्ततोगत्वा उन्होने इसको 'माया' कह कर छोड़ दिया है। समय के अन्तराल में रहते हुये साधक के लिये बीच में घटित होने वाले क्रमों को नष्ट किया जाना कठिन है, और इसलिये भगवान श्री कृष्ण ने भी कर्म की गति गहन कहा है[1] ।

युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत दृश्य जगतीय दृष्टिकोण के अनुसार अवचेतन इतनी गहरी सतह पर स्थित है कि जिसतक चेतना का प्रकाश पहुँच ही नहीं सकता अतः अवचेतन को अन्तिम विश्लेषण के द्वारा समझा ही नहीं जा सकता । अवचेतन को असंख्य तारामंडित अंधेरा आकाश कहा गया है[2] । अवचेतन के अन्तर्वस्तु की कभी भी समाप्ति नहीं हो सकती तथा अवचेतन के प्रत्येक स्तर पर विरोधाभासी वृत्तियों का सामना करना पड़ता है अतः अवचेतन को तह तक मानवीय ज्ञान द्वारा पहुँचना अत्यन्त कठिन है और इस कारण इस पद्धति के अन्तर्गत किसी भी पूर्णत्वकी ज्ञान प्राप्ति के ध्येय तक पहुँच पाना सम्भव नहीं है । ऐसी मान्यता है । मनोविज्ञान में अवचेतन को चेतन का मूल स्रोत माना गया है और इस अवचेतन की अभिव्यक्ति मूलप्रारूप (आर्कटाईप) अन्तर्वस्तु के माध्यम से होती है और अवचेतन से ज्ञान जब चेतन के स्तर पर पहुँचता है तब इस चेतन का केन्द्रस्थ बिन्दु आत्मा ही है। अर्थात् इस प्रकार युगींय मनोविज्ञान के अन्तर्गत आत्मवस्तु की झाँकी प्रस्तुत किये जाने का संकेत है ! युंगीय मूल प्रारूपो (आंर्क टाइप्स) के अनुभव से उच्चस्तरीय ज्ञान तथा आत्मवस्तु की भाँकी प्राप्त हो सकती है।

युंगीय मनोविज्ञान के अनुसार आत्मा ही चेतनावस्था का केन्द्र बिन्दु है, तथा परिधि स्थित चेतन का मूलाधार अवचेतनी मूल प्रारूप (आर्की टाइप्स) है, जिसका प्रगटीकरण या ज्ञान चेतना के स्तर पर आत्मा को होता है और इस प्रकार अवचेतन स्तरीय मूल प्रारूप को आत्मा द्वारा चेतना के प्रकाश में योग्य प्रकार से समझना ही मानव का ध्येय है[3] । युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत चित्त की दो स्थितियाँ (चेतना तथा अवचेतन) मानी गयी हैं, जिनके बीच अर्न्तवस्तु का निरन्तर प्रवाह होता रहता है और इन दोनों स्थितियों के बीच किसी सेतु की कोई

1 श्री भद्गवद्गीता अध्याय 4 श्लोक 17

2 The spirit & Psychology and Nature R.K. Paul London 1955 p 402-43 पृष्ठ 423.

3 वही

कल्पना नहीं की गई है, जिसके द्वारा चेतन तथा अवचेतन को जोड़ा जाय, किन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार इन दोनों स्थितियों का प्रवाह एक से दूसरे स्तर पर निरन्तर सहज ढंग से होना माना गया गया है, अर्थात् चेतन अवचेतन में तथा अवचेतन चेतन में अदलता-बदलता रहता है और एक की अन्तर्वस्तु दूसरे स्तर की अन्तर्वस्तु में सतत् घुलती मिलती रहती है और इस प्रकार चेतन तथा अवचेतन की अन्तर्वस्तु का भेद भी इस दृष्टि से समाप्त समझा जाना चाहिये । युंगीय मनोविज्ञान के अनुसार मानव अपने मूल प्रारूप (आद्य स्वरूप) को केवल उसके परिणामों के माध्यम से ही अनुभव कर सकता है । अर्थात् आद्य प्रारूपों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है, वह केवल आभास मात्र अथवा अनुमान (अनुमिति) ही है, जिसको मानव अपने चेतना स्तर पर अनुभव करता है, किन्तु इन आद्य प्रारूपों की किसी प्रकार से व्याख्या किया जाना संभव नहीं है । मूल प्रारूपों का स्वतः ही अनुभव हो जाता है, किन्तु उनकी व्याख्या या विवेचन किया जाना कठिन है[1] ।

भारतीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत चेतन तथा अवचेतन की सुस्पष्ट पृथक् पृथक् स्थितियाँ है । अवचेतन वह क्षेत्र है जिसकी अन्तर्वस्तु अनजानी रहती है, तथा चेतन वह स्तर है जो आत्मा के प्रकाश में स्वयं प्रकाशित है तथा स्वतः जाना जाता है । अवचेतन को भारतीय चिन्तन में प्रकृति कहा गया है, जो कि सम्पूर्ण वस्तुओं तथा विषय का मूलाधार उद्भव स्थल है । भारतीय मान्यतानुसार मूल स्वरूप प्रकृति को आलोकित होने के लिये चेतन के प्रकाश की जरूरत रहती है । प्रकृति ही सम्पूर्ण सृष्टि तथा क्रियाओं की जननी 'महान माता' है ।

इस अनजाने अवचेतन को भी भारतीय चिन्तन में आत्मा माना गया है जो कि पूर्ण चैतन्य है । यह निःसन्देह अज्ञेय है किन्तु वस्तुतः यह अवचेतन नहीं है । इसको अनजाना अज्ञेय इसी अर्थ में कहा गया है, क्योंकि आत्मा को किसी विषय की तरह जाना नहीं जा सकता, क्योंकि आत्मा तो केवल मात्र विषयी (द्रष्टा) है और आत्मा ही ज्ञाता तथा सम्पूर्ण इकाई है, अतः आत्मा को केवल चेतन अथवा अवचेतन मात्र नहीं कहा जा सकता । आत्मा निरुपाधिक ज्ञान से परे हैं जिसको न पकड़ा जा सकता है और न उसकी व्याख्या की जा सकती है अतः आत्मा को वाचातीत अथवा अनिर्वचनीय माना गया है ।

त्रिपुरा रहस्य (ज्ञान खण्ड) के अनुसार व्यक्तित्व-विकास (व्यक्तीकरण-प्रक्रम) को निम्नांकित प्रकार से स्पष्ट किया गया है :—

---

1 उपरोक्त पृ०, 424-26

(1) व्यक्तित्व-विकास के लिए गुरु का सान्निध्य प्राप्त किया जाना परम आवश्यक है, क्योंकि गुरु ही सर्वोपरि सत्ता है, तथा गुरु ही सशरीर परमेश्वर है।

(2) व्यक्तित्व-विकास के लिए साधक को भगवान में अटूट श्रद्धा रखनी चाहिए तथा उसमें अपने सम्पूर्ण अहम् का सन्निवेश कर देना चाहिए क्योंकि भगवान का अहं की अपेक्षा अधिक महत्व एव ऊँची सत्ता है।

(3) साधक को बाह्य संसार की सभी वस्तुओं में अपूर्णता तथा परस्पर विरोधी वृत्तियों का अनुभव करते हुए इनकी क्रियाओं से सदैव असंग रहना चाहिए।

(4) साधक को 'मैं' तथा 'मेरा' का सम्यक् विवेचन करते हुये 'आत्मा' की विवेकपूर्ण खोज में निरन्तर लगे रहना चाहिए।

(5) साधक को पूर्ण चैतन्य आत्मा का अनुभव करना चाहिए। अहम् के सम्पूर्ण त्याग के पश्चात् ही आत्मानुभूति संभव है ?

(6) साधक को यह अनुभव करना चाहिए कि वह स्वयं आत्मा है जो स्वयं प्रकाश एवं चैतन्य है तथा उसमें तथा आत्मा में कोई भेद नहीं है।

(7) साधक को सर्वत्र आत्मा की अनुभूति करनी चाहिए क्योंकि सभी जगह सभी वस्तुओं तथा क्रियाओं में एकमात्र आत्मा की ही व्याप्ति है और इसलिये न तो कोई खोज करने वाला है और न किसी को खोज किया जाना संभव है। सम्पूर्ण विश्व या सृष्टि आत्मा के प्रेम और प्रकाश से उजागर है अतः अन्तिम संश्लेषण के अनुसार आत्मा और इस सृष्टि में कोई भेद ही नहीं है।

व्यक्तीकरण प्रक्रम : युंगीय पद्धति

भारतीय दृष्टि से डॉ० युंग का मनोविज्ञान एक विशिष्ट पाश्चात्य विचारधारा है जिसके अन्तर्गत मानव–जीवन की गहनतम समस्याओं को समझने तथा उनका योग्य समाधान निकालने का ईमानदारी के साथ प्रयत्न किया गया है। डॉक्टर सी० जी० युग ने मानवीय अनुभवों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाले जाने की ओर संकेत दिया है कि मानवीय व्यक्तित्व का विकास संघर्ष और द्वन्द्व के झंझावातों की सम्यक समझ से ही संभव है और इस सम्यक ज्ञान के फलस्वरूप व्यक्ति सहज नैसर्गिक गति से अपने पूर्णत्व एवं समग्रता की ओर निरन्तर अग्रसर होता रहता है। डॉक्टर युंग की उपरोक्त अवधारणा के फलस्वरूप युंगीय मनोविज्ञान को पूर्व देशीय आध्यात्म मार्ग अथवा भारतीय योग–साधना के समकक्ष स्थिर किया जाना योग्य है।

अतः युंगीय मनोविज्ञान की सुस्पष्ट तथा तर्क संगत व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए उसको जीवन-पथ की एक पद्धति की तरह विवेचित किया जाना जरूरी है! क्योंकि युंगीय मनोविज्ञान न तो तर्कवादी दर्शन है और न इसकी कोई पूर्व निश्चित प्रणाली है। युंगीय मनोविज्ञान का विकास केवल मानवीय अनुभवों पर आधारित है। युंग का मनोविज्ञान मानवीय अनुभव पर आधारित एक खुली किताब है—एक जीवन पथ है, अनुभवाश्रित वैज्ञानिक ब्यौरा है, जिसके विस्तार की असीम संभावनाएँ हैं किन्तु फिर भी इसके विकास का कोई क्रम अथवा दिशा–गति निश्चित नहीं हैं। निःसन्देह मानव अनुभव का दायरा अत्यन्त विस्तृत एवं अमर्यादित है तथा आत्म-ज्ञान अथवा आत्म-अनुसन्धान को अनादि और अनन्त कहा गया है। युगीय मनो-विज्ञान के अन्तर्गत चित्तीय सम्बन्धी सभी नियमों, अवचेतन स्तर पर घटित प्रसंगों अर्न्तजगतीय अनुभूत देवी देवताओं तथा उनके प्रतीक प्रतिमाओं के सम्बन्ध में अनुभवों का वैज्ञानिक विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसको मोटे तौर पर प्राक्कल्पना (Hypothesis) ही कहा जा सकता है। यद्यपि युंगीय मनोविज्ञान की समग्र सामग्री मानवीय अनुभव पर आधारित है, फिर भी युंग द्वारा प्रस्तुत विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान अब तक केवल विकासावस्था में हैं और चित्त के अवचेतन स्तर सम्बन्धी बहुत ही अल्प जानकारी अब तक प्रस्तुत की जा सकी है। युंग ने भी अवचेतन को अज्ञात तथा अज्ञेय स्वीकार किया है, अवचेतन सचमुच अंधकार पूर्ण, असीम अनजाना और अज्ञेय है, जो कि अहं की पकड़ से परे है, इसलिये युंग ने केवल विशुद्ध द्रष्टा की तरह अवचेतन स्तर से अभिव्यक्त होने वाली घटनाओं को केवल साक्षी भाव से देखते रहने की सलाह दी है, अंधकार मय अवचेतन स्तर पर क्या-क्या घटित हो

रहा है, तथा इसका क्या अभिप्राय या प्रयोजन हो सकता है, तथा इसके बाद आगे क्या घटित हो सकता है, इत्यादि प्रश्नों से परे रहकर उसको केवल तटस्थ भाव से जो कुछ भी घटित हो रहा है उसको अपनी निजी समझ तथा अनुभव के आधार पर समझना ही युंगीय मनोविज्ञान की निर्धारित मर्यादा है।

इसी प्रसग में इस उल्लेखनीय तथ्य को भी सदैव स्मरण रखा जाना चाहिए कि युंगीय मनोविज्ञान का सम्पूर्ण विकास डॉ० युंग द्वारा उनके रोगियों की समस्याओं तथा तत् सम्बन्धी समाधान के लिए प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर ही हुआ है। डॉ० युंग के समक्ष मनस्तापी रोगी उपस्थित होते थे जिनके द्वारा प्रस्तुत गंभीर समस्याओं के समाधान हेतु युंग ने सदैव जागरूकता से अध्ययन करते हुये कतिपय मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष इकट्ठे किये, इस प्रकार की संग्रहभूत सामग्री युंगीय मनोविज्ञान की आधारशिला है। उनकी नवीनतम जीवनी Memories Dreams and Rejlections के अध्ययन से यह सुस्पष्ट है कि डॉ० युंग अपने प्रारंभिक जीवनकाल से ही मनोरोग विज्ञान, मानसिक चिकित्सा एवं अलकाभिया के अध्ययन में लगे रहे और बगैर किसी पूर्व निश्चित धारणा अथवा किसी दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त का सहारा लिये बिना उन्होंने केवल साक्षी भाव से मानव जीवन की मानसिक पीड़ाओं का अध्ययन करते हुये अपने रोगियों की पीड़ा को कम करने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। डाक्टर सी. जी युंग ने अपने तथा अपने रोगियों के बीच होने वाले विचार विमर्श का गहन अध्ययन करते हुए बार-बार घटित होने वाली कतिपय घटनाओं पर ध्यान केन्द्रित किया और इस प्रकार उन्होंने युंगीय–मनोविज्ञान की एक पद्धति स्थिर की जिसकी अलकीमिया, आदिम जातीय धार्मिक संस्कार, रहस्यवादी एवं योग-साधनाओं से आश्चर्यजनक समानता पायी जाती है। युंगीय मनोविज्ञान की यह उल्लेखनीय विशेषता है। उसके मनोविज्ञान में धर्मान्धता अथवा रूढ़िवादिता के लिये कोई स्थान नहीं है, इसलिये इस साधना पथ पर चलकर किसी भी धर्म का अनुयायी अपने सही स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है। इस प्रकार युंग का यह साधनापथ भारतीय गुरुमार्ग प्रणाली के समानान्तर समझे जाने योग्य है।[1]

---

1 ऐसे अनेक उदाहरण देखे गये है कि कई भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों ने जिनकी आस्था उनके स्वधर्म के प्रतिक्षीण हो चुकी थी तथा जो अपने धार्मिक विश्वासों से विमुख हो चुके थे, वे भी युंगीय साधना पथ का अनुसरण करने पर अपने स्वधर्म के प्रति नयी दृष्टि प्राप्त कर सके। जैसे एक कैथोलिक सज्जन को निष्पक्ष एवं तटस्थ दृष्टि अपनाने पर अपने धर्म के रहस्यों का ज्ञान हो गया, तथा एक पारसी मतावलम्बी ने भी अपने 'आतिश बहराम' में नया प्राण पाया।

डॉक्टर युंग उनके मनोविज्ञान को एक प्रणाली अथवा रूढिग्रस्त पथ भी स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है क्योंकि जीवन-पथ निःसन्देह अज्ञात की खोज है। इस जीवन-पथ पर कब तथा क्या अनुभव हो सकता है, इसके सम्बन्ध में पहिले से कुछ भी निर्धारित किया जाना सम्भव नहीं है। अज्ञात प्रत्येक मानव-जीवन में किस प्रकार से अभिव्यक्त होगा, यह कोई जान ही नहीं सकता। प्रत्येक होने वाला अनुभव सचमुच अनिर्धारित और सर्वथा नवीन होता है। किसी भी मनोवैज्ञानिक के लिये जीवन-पथ के यात्री को किस अनुभव का सामना करना पड़ेगा, उसकी बाबत पूर्व सूचना प्रस्तुत करना संभव ही नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीवन-यात्रा अपने आत्मविश्वास तथा दायित्व के साथ निरन्तर जारी रखनी पड़ती है। चिकित्सक अथवा गुरु इस यात्रा के दौरान में केवल मार्गदर्शक तथा साथी ही रह सकता है। निःसन्देह चिकित्सक यात्री का सहयोगी रहता है, इसलिये वह यात्री के चढ़ाव उतार से आन्दोलित रहता है, उसको भी साधक की यात्रा का अद्‌भुत अनुभव होता है। यात्रा के इस संघर्ष पूर्ण दौरान साधक और चिकित्सक-गुरु दोनों की विवेक की तलवार की धार पर चलना पड़ता है। अतः डॉक्टर युंग के प्रति क्षमा-याचना करते हुये यह कहना पड़ता है कि अज्ञात की यह यात्रा (युंग का जीवन-पथ) निःसन्देह अत्यन्त विकट अन्धकार पूर्ण तथा अनजान रास्ता है।

ब्यासी वर्ष की आयु होने पर भी डॉ० युंग के चित्त में अवचेतन तथा अगम्य के आविर्भाव के प्रति जागरूक शंका के पूर्ववत् दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। घटना क्या है, किस प्रकार की है, इसका क्या प्रयोजन अथवा अर्थ है, इन उलझनों से परे रह कर यथार्थ को उसी रूप में स्वीकार करना तथा उस पर अपनी किसी मान्यता या कल्पना को नहीं थोपने की सावधानी बरतना, निःसन्देह युंग के साधना-पथ की उल्लेखनीय विशेषता है। एक सच्चे वैज्ञानिक की तरह युंग ने कहा है "वस्तु-स्थिति यह है, इसके आगे मैं कुछ नहीं जानता"। युंगीय मनोविज्ञान में साधनापथ के प्रत्येक यात्री को इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने का निरन्तर आग्रह किया गया है। प्रत्येक यात्री को यह समझाया जाना चाहिये कि वह अपने अज्ञात चित्त में होने वाले अनुभव को महसूस करे और अपनी स्वतः प्रेरणा से इस अनुभव को समझने के प्रति जागरूक रहे। चिकित्सक अथवा गुरु केवल मार्गदर्शक ही हो सकता है अतः साधक को स्वयं अपने अनुभव के आधार पर ही अन्तिम निष्कर्ष निकालना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् युंगीय मनोविज्ञान तथा भारतीय गुरुमार्ग पद्धति का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना उचित होगा। यह भलीभाँति प्रतिपादित किया जा चुका है कि सम्पूर्ण युंगीय अनुभव का आधार चित्त है, जो स्वभाव से

द्वन्द्वात्मक है । प्रत्येक मानसिक व्यापार की व्याख्या ऊर्जा (=चित्तीयशक्ति) की दृष्टि से की जा सकती है । हमारी प्रेरणाएँ, इच्छाएँ आदि इस चित्तीय शक्ति उर्जा का ही व्यक्त रूप है । ऊर्जा की अभिव्यक्ति (प्रगटीकरण) द्वन्द्व के बिना नहीं हो सकती। हमारी जाग्रतावस्था में होने वाली इच्छाओं तथा प्रवृत्तियों (Tendencies) का उद्गम चित्त का अवचेतन स्तर है जो स्वयं प्रेरित है। अवचेतन अर्थात् अज्ञात अन्तर्जगत के व्यापार विषय तथा चेतन अर्थात् जाग्रतावस्था के व्यापार विषय दोनों मिल कर एक चित्त की संरचना करते हैं । अर्थात् चित्त का एक ध्रुव चेतन है और दूसरा ध्रुव अवचेतन है और ऊर्जा अर्थात् चित्तीय शक्ति का प्रवाह इन दो परस्पर विरोधी ध्रुवों (चेतन तथा अवचेतन) के बीच नैसर्गिक रूप से आकर्षण-विकर्षण क्रिया से निरन्तर बना रहता है । इस प्रकार व्यक्ति के समस्त मानसिक व्यवहार चेतन और अवचेतन के बीच होने वाले चित्तीय प्रवाह (ऊर्जा शक्ति) के फलस्वरूप अभिव्यक्त होते हैं । चित्त की रचना परस्पर विरोधी चेतन तथा अवचेतन के समिश्रण से है अतः जो वस्तु चेतन स्तर पर है, उसका अवचेतन स्तर पर अभाव पाया जाता है, तथा जो वस्तु अवचेतन स्तर पर है, उसका अनुभव चेतन स्तर पर नहीं हो पाता। वस्तु या तो सतह पर रहती है अथवा गहराई या नींव पर रह सकती है और चित्तीय प्रवाह सतह और नींव के बीच नैसर्गिक तथा सहज व्यापार से होता रहता है, और इस सतत् स्वतः ऊर्जा-प्रवाह के फलस्वरूप चेतन तथा अवचेतन अथवा सतह तथा गहराई के बीच योग्य सामञ्जस्य बना रहता है ।

युंग ने मानवीय अनुभव एवं वैज्ञानिक निरीक्षण के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि चित्तीय शक्ति (ऊर्जा) की अभिव्यक्ति चार प्रकार की क्रियाओं से होती है यथा—(1) भावना (2) चिन्तन (3) संवेदन तथा (4) अन्तःप्रज्ञा । इन चार क्रियाओं में प्रथम दो क्रियाओं (भावना और चिन्तन) को विश्लेषणात्मक अर्थात् विवेक बुद्धि-सङ्गत द्वन्द्व कहा गया है । संवेदन तथा अंतःप्रज्ञा क्रियाओं को अतार्किक द्वन्द्व माना गया है अर्थात् संवेदना तथा अंतःप्रज्ञा की क्रियाएँ विश्लेषणात्मक नहीं होती । इसके अलावा युंग ने इस निष्कर्ष की ओर भी ध्यान दिलाया है कि भावना और चिन्तन तथा संवेदन और अंतःप्रज्ञा परस्पर विरोधी धर्मी, द्वन्द्वात्मक एवं एक दूसरे की पूरक क्रियायें हैं अर्थात् यदि किसी व्यक्ति की प्रकृति भावना प्रधान है तो निःसन्देह उसकी चिन्तन शक्ति अल्प विकसित मानी जायगी और इसी प्रकार संवेदना प्रधान व्यक्ति का अंतःप्रज्ञा स्तर कमजोर पाया जायगा । चित्त उपरोक्त चार क्रियाओं के जरिये विषय (Object) से सम्बन्ध स्थापित करता है । व्यक्ति की प्रकृति अथवा स्वभाव के अनुसार उसकी प्रधान क्रिया का अस्तित्व उसके चित्त

के चेतन स्तर पर रहता है, और अवचेतन स्तर पर उसकी विरोधी क्रिया की स्थिति मानी गई है। और अन्य दो क्रियाएँ अर्द्धचेतन एवं अर्द्ध अवचेतन स्तर पर रहती हैं, युंग द्वारा प्रतिपादित व्यक्तीकरण प्रक्रम (Process of Individuation) का अर्थ यह है कि व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार क्रियाशील होकर अपने व्यक्तित्व का विकास सहज एवं नैसर्गिक प्रकार से निरन्तर करता रहता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी सहज प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार उसकी प्रधान क्रिया का प्रयोग करते हुये वस्तु जगत को सही रूप में समझ कर आगे बढ़ता है। जैसे भावना-प्रधान व्यक्तित्व-का विकास उसके चेतन स्तरीय भाव-पक्ष की समुचित क्रियास्थिति से होता है और इस विकास के दौरान उक्त व्यक्ति के अवचेतन स्तर पर स्थित चिन्तन शक्ति से उसके व्यक्तित्व का उपयुक्त प्रकार से सन्तुलन बना रहता और इस प्रकार चेतन स्तरीय भावना तथा अवचेतन स्तरीय चिन्तन शक्ति के सम्मिलन एवं सामञ्जस्य से सहज एवं नैसर्गिक गति से उसके समूचे व्यक्तित्व का विकास होता है। इसी प्रकार संवेदन प्रधान व्यक्ति का विकास उसके अवचेतनस्तरोय अंतःप्रज्ञा की सन्तुलनात्मक स्थिति से सहज संभावित है। प्रायः व्यक्तित्व के विकास हेतु एक प्रधान क्रिया के साथ साथ या कभी कभी गौण क्रियाओं का सामञ्जस्य बनाये रखना जरूरी हो जाता है। व्यक्तित्व के पूर्ण तथा समग्र विकास के लिये उपरोक्त सभी प्रकार की क्रियाओं की कार्यान्विति तथा इनके बीच सही रूप से सन्तुलन एवं सामञ्जस्य बनाये रखना जरूरी माना गया है।

मानव जीवन का प्रारम्भ शिशु अवस्था से है, जो उसकी अवचेतनावस्था है। बचपन व्यक्तित्व की बीजावस्था है जिसमें सहज विकास की असीम संभावनायें निहित हैं। प्रायः मानव समय के साथ इस बीजावस्था से नैसर्गिक और सहज रूप से बहिर्मुखी विकास के माध्यम से अपनी प्रौढावस्था तक निरन्तर बढ़ता ही रहता है जो उसका सहज बहिर्मुखी विकास है। जीवन के इस पूर्वार्द्ध में न केवल व्यक्ति का शरीर और मन ही बढ़ता है अपितु उसकी चेतना भी जगत के परिचय से विकसित होती है और वह अपनी अवचेतनावस्था से चेतनावस्था की ओर सहज रूप से अग्रसर होता है। बहिर्मुखी विकास के इस क्रम में एक ओर व्यक्तित्व को अपने सन्मुख प्रस्तुत बाह्य जगत के साथ तथा दूसरी ओर अपने अन्धकारपूर्ण अज्ञान अवचेतन के साथ संघर्षों में उलझना पड़ता है, और व्यक्ति को बाह्य वातावरण तथा समाज के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिये तथा उसके चेतन तथा अवचेतन स्तर में तालमेल व सामञ्जस्य बिठाने के लिये बाह्य जगत के प्रति विशेष रुख को अपनाना पड़ता है, जिसको युंगीय मनोविज्ञान में "परसोना" अथवा मुखौटा निर्माण प्रक्रिया कहा गया है। व्यक्ति की बाह्य परिस्थितियों के समायोजनहेतु 'परसोना' प्रक्रिया एक अनिवार्य

स्थिति है। इस विकास के दौरान व्यक्ति प्रायः उसके स्वभाव (प्रकृति) के अनुरूप विचार, भावना, संवेदना तथा अंत:प्रज्ञा में से किसी एक प्रधान प्रक्रिया का अधिक उपयोग करता है, और इसकी विरोधी तथा अन्य क्रियाओं की वह प्रायः उपेक्षा करता है, अतएव विकास के इस दौरान में व्यक्ति की सहज स्वभावजन्य क्रिया अथवा प्रवृत्ति (Tendency) का उत्तम विकास होता है, और अन्य क्रियायें गौण रूप से अविकसित पड़ी रह जाती है। बहिर्मुखी विकास का यह क्रम शैशवावस्था से प्रौढावस्था तक निरन्तर होता रहता है, और जीवन के इस पूर्वार्द्ध काल में मानव के शरीर मन और चित्त के विकास के साथ उसके सुनिश्चित समन्वित व्यक्तित्व का निर्माण सहजरूप से होता रहता है, किन्तु प्रौढावस्था के बाद बहिमुखी विकास का यह सहज निरन्तर क्रम रुक जाता है और वृद्धावस्था के आगमन पर शरीर की बाह्य वृत्तियाँ शनैः शनैः सिकुड़ने लगती हैं और शरीर तथा मन की इन्द्रियों का व्यापार धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगता है, और मानव का बाह्य जगत के प्रति पूर्ववत् आकर्षण कम होने लगता है, और इस प्रकार जीवन के इस उत्तरार्द्ध संध्याकाल में बहिर्मुखी विकास का पूर्वक्रम अंतर्मुखी होकर बदल जाता है[1]। मानव जीवन के इस संध्याकाल के दौरान में व्यक्ति को उसके बाह्य जगत के सम्पर्क सारहीन तथा अप्रभावशील अनुभव होने लगते हैं और उसकी वृत्तियाँ प्रवृत्ति के बजाय निवृत्ति तथा अर्न्जगत की ओर उन्मुख होने लगती हैं। इस अवसर पर मृत्यु की सन्निकटता का अनुभव करते हुए व्यक्ति के चित में मैं कौन हूँ ? क्या हूँ ! कहाँ से आया ? क्यों आया ? मेरा अन्त क्या है ? इत्यादि अनेक मौलिक दार्शनिक प्रश्न सहज ही उसके चित्त में उठने लगते हैं। जीवन के उत्तरावस्था में प्रस्तुत होने वाली इस प्रकार की समस्यायें तथा मौलिक प्रश्नावलियाँ सचमुच उसके सही और पूर्ण स्वरूप को पहिचानने की सही दिशा या गति की द्योतिका हैं, अत: इन गम्भीर समस्याओं और गहन अवचेतन स्तरीय व्यापारों की ओर ध्यान केन्द्रित करते हुए अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु तथा उसमें निहित अन्तर्चित्रों और व्यापार की ओर समुचित ध्यान देना ही चाहिये, तथा इनके अर्थ को गम्भीरतापूर्वक समझने का प्रयत्न करना चाहिये। व्यक्ति अपने अवचेतन स्तरीय व्यवहारों को तभी भलीभाँति समझ सकेगा, जबकि वह अपने पूर्वार्द्ध जीवन में अपनाये गये बहिर्मुखी स्वभाव से मुक्त हो जाय। आन्तरिक विषय-वस्तु और उसकी हलचलों की सम्यक् समझ के लिये विशुद्ध अन्तर्मुखी दृष्टि का उपयोग किया जाना जरूरी है, और अन्दर

---

1. यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि इस विकास क्रमके दौरान व्यक्ति को 'मुखौटा' (परसोना); छाया (शैडो) तथा एनिमा—एनीमस की समस्याएँ उचित रूप से समझकर ही अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहिये।

की ओर देखने के लिये पूर्ववत् बाहर की ओर देखने की आदत को भी बदलना जरूरी है। व्यक्तित्व-विकास के इस क्रम में विशुद्ध अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के आधीन अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु तथा उसके क्रियाकलापों के सम्यक् अध्ययन से ही मानव अपने व्यक्तित्व की पूर्णता एवं समग्रता की इकाई का अर्थ समझ सकता है तथा अनुभव कर सकता है। युंग ने मानवीय अनुभवों के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न किया है कि अवचेतन स्तरीय क्रियाकलापों की सम्यक् समझ ही मानवीय व्यक्तित्व के पूर्णत्व एवं इकाई की आन्तरिक माँग है। अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं की खोज से ही व्यक्ति अपनी पूर्णता और समग्रता की ओर अग्रसर हो सकता है। यह निष्कर्ष युंगीय मनोविज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान है। व्यक्तीकरण प्रक्रम (Individuation Process) युंग की मान्यतानुसार व्यक्तिमात्र की उसकी सहज प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार उसके 'स्व' की खोज है, और स्वयं द्वारा 'स्व' की खोज ही मानव मात्र की सहज गति अथवा नियति है, और इसको समझना तथा प्राप्त करना ही भारतीय दार्शनिक शब्दावली के अनुसार 'परम पुरुषार्थ' है। पूर्णत्व की खोज ही सभी जीवधारियों की सहज गति है जिसका समर्थन अन्य क्षेत्रों में भी पाया जा सकता है। किन्तु युंग ने केवल मानवीय अनुभवों के आधार पर ही व्यक्तित्व-विकास सम्बन्धी निष्कर्ष स्थिर करने का प्रयत्न किया है जो प्रस्तुत पुस्तक का मुख्य विषय है। इस प्रकार युंग के विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत न केवल व्यक्तित्व के विकास के सहज क्रम पर प्रकाश डाला गया है, अपितु, इसके द्वारा निर्धारित निष्कर्षों की सहायता से मनस्तापी रोगियों की चिकित्सा के लिये भी मार्ग प्रशस्त किया गया है, अतः युंगीय-मनोविज्ञान को मानस-उपचार-पद्धति अथवा मानस आरोग्य-विज्ञान भी कहा जा सकता है। व्यक्तिकरण-प्रक्रिया के अनुसार व्यक्ति मात्र अपनी सहज प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार अपनी ही खोज में लगे रहने के लिये बाध्य है। व्यक्तित्व-विकास ही व्यक्ति की नियति अथवा उसकी विधि के लेख की लकीर है। अतः व्यक्ति अपने सम्पूर्ण तथा समग्र व्यक्तित्व ज्ञान–अनुभव के लिये सहज प्रकार से समय के साथ स्वतः विकासोन्मुख है, अतः कोई भी व्यक्ति विकास के इस क्रम अथवा प्रभाव से अछूता रह ही नहीं सकता। विकास ही उसकी गति नियति अथवा सहज धर्म है। व्यक्तित्व विकास के इस दौरान व्यक्ति के अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु का उभार जब चेतन स्तर पर होने लगता है तब उसको अद्‌भुत कल्पनाओं, विचार-संघर्षों, स्वप्नों, अर्न्तचित्रों, प्रतीकों आदि का धुँधला सा या अस्पष्ट अनुभव होने लगता है, अर्थात व्यक्ति के अवचेतन स्तर की सामग्री इन संघर्षों, स्वप्नों तथा प्रतीकों के माध्यम से चेतन स्तर पर उजागर होने लगती है, इस अवसर पर साधक व्यक्ति को अवचेतन स्तर से प्रारंभ होने वाले इन

व्यापारों को तथा इनके प्रयोजनों को भलीभाँति तटस्थ भाव से समझने की कोशिस करनी चाहिये अन्यथा विकास-क्रम की इन घटनाओं की गलतफहमी से व्यक्ति के रोगग्रस्त अथवा विशृंखलित हो जाने की आशंका उपस्थित हो सकती है, जिसको व्यक्तित्व का ह्रास अथवा विनाश ही कहा जायगा। युंग ने मानवीय अनुभवों के अध्ययन के द्वारा यह सुस्पष्ट किया है कि अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति जिन स्वप्नों एवं प्रतीकों के माध्यम से चेतनस्तर पर होती है उनकी समानता प्राक् मानव कृतियों, चित्रों तथा प्राचीनतम आदिम मानव के धार्मिक विधि-विधानों, आदि में आश्चर्य जनक रूप से पायी जाती है, अर्थात् अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु की स्वप्नों, तथा प्रतीकों के रूप में प्रगट होने वाली भाषा प्रागैतिहासिक आदिम मानव की भाषा है। युंग ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि इस प्रकार स्वप्नों तथा प्रतीकों से अभिव्यक्त माध्यम के द्वारा ही व्यक्ति उसके बाह्य व्यवहार तथा अन्तरतम स्तरीय अवचेतन के बीच पूरक अथवा क्षतिपूरक रूप से तालमेल अथवा सन्तुलन (समायोजन) बना सकता है, और बाह्य परिस्थितियों तथा अन्तर्दर्शन इन दोनों प्रतिपूरक व्यापारों की सम्यक् समझ से ही व्यक्तित्व का न केवल सन्तुलन ही बना रह सकता है अपितु बाह्य तथा अन्तर्दृष्टि की इन दोनों की संयुक्त सम्यक् समझ से ही व्यक्तित्व के समग्र पूर्ण स्वरूप का बोध प्रत्येक साधना-रत व्यक्ति को हो सकता है जिसको भारतीय दार्शनिक शब्दावली में "स्वसाक्षात्कार" अथवा "आत्म दर्शन" कहा गया है।

व्यक्ति के प्रारंभिक जीवन में घटित कतिपय सहज वृत्तियों, इच्छाओं औ वासनाओं को जिन्हें उस समय व्यक्ति भोग नहीं कर पाता उन्हें प्रायः अपने चेतन स्तर से हटा देना पड़ता है। इसी तरह व्यक्ति द्वारा वाह्य समाज से सामंजस्य स्थापित करने के लिये अंगीकृत मुखौटा-निर्माण के बाद जिन इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति मुखौटायुक्त व्यक्ति नहीं कर पाता उन्हें भी प्रायः अवचेतन स्तर पर धकेल देना पड़ता है। इसलिये जिस प्रकार चेतन स्तर पर व्यक्ति मुखौटे का आश्रय लेता है उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बाह्य मुखौटे के साथ अवचेतन स्तरीय छाया का सहज निर्माण हो जाता है, और व्यक्ति को अवचेतन स्तरीय छाया की समस्यायें परेशान करने लगती हैं। दिये तले स्थित इस अन्धकार या छाया को स्वीकार करने के लिये मानव विवश है। जिस प्रकार व्यक्ति ने चेतन स्तर पर अपनाये गये मुखौटे की लम्बाई—चौड़ाई को व्यक्तित्व की सुरक्षा की दृष्टि से स्वीकार किया है, उसी प्रकार व्यक्ति को परसोना (मुखौटा) के प्रतिरोध में सहज निर्मित छाया की गहराई को भी सोच समझ कर स्वीकार कर लेना चाहिये। यह हमारे जीवन की नैतिक समस्याओं का मूल है। जीवन की पूर्णता चेतन तथा अवचेतन दोनों समभागों की सम्यक् जानकारी में ही निहित है, इसलिये केवल चेतन स्तरीय समस्याओं की जानकारी से सतही ज्ञान होगा तथा

पूर्णत्व के ज्ञान के लिये व्यक्ति को अपने चेतन की सतही जानकारी के साथ ही साथ अवचेतन स्तरीय छाया की गहराई की जानकारी भी प्राप्त करना जरूरी है। सर्वांगीण जीवन की मर्यादा अनन्त है, जिसके लिये चेतन की सतह (लम्बाई, चौड़ाई) के साथ ही साथ अवचेतन छाया की गहराई का भी अध्ययन किया जाना जरूरी है। इस प्रकार डा० युंग ने व्यक्तित्व के तीन आयाम (लम्बाई चौड़ाई तथा गहराई) निर्धारित किये हैं। व्यक्ति के पूर्वार्द्ध जीवन काल में बाह्य जगत के साथ सामञ्जस्य तथा तालमेल बैठाने के लिये परसोना (मुखौटा) निसन्देह उपयोगी है, किन्तु व्यक्ति द्वारा स्वीकृत यह ओढ़ा हुआ मुखौटा उसके व्यक्तित्व का कोई अनिवार्य अंग नहीं है, इसलिये युंग ने बार बार सावचेत किया है कि व्यक्ति को अपने द्वारा स्वीकृत सूक्ष्म मुखौटे के साथ कभी भी तादात्म्य स्थापित नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार शरीर की सुरक्षा तथा सुविधा की दृष्टि से व्यक्ति के लिय वस्त्र धारण करना जरूरी तथा उपयोगी है, उसी प्रकार व्यक्तित्व को बाह्य जगत के प्रत्याघातों से बचाने के लिये आवश्यकतानुसार मुखौटा अपनाना भी जरूरी हो जाता है, किन्तु जिस प्रकार अंगीकृत वस्त्र शरीर का कोई अंश अथवा हिस्सा नहीं है, उसी प्रकार मुखौटा भी उसके व्यक्तित्व का कोई अंग नहीं है। परसोना अथवा मुखौटा केवल सुविधा एवं सुरक्षा की दृष्टि से अपनाया गया वस्त्र है, जिसको समयानुसार आन्तरिक माँग उपस्थित होने पर आसानी के साथ अलहदा किया जाना चाहिये। किन्तु यदि किसी व्यक्ति ने इस ओढ़े गये मुखौटे को अत्यधिक महत्व देकर इसके साथ अपने व्यक्तित्व का तादात्म्य स्थापित करने की भूल कर ली हो तो ऐसे व्यक्ति के लिये मुखौटे की अलहदगी एक गंभीर समस्या उत्पन्न कर देगी और ऐसे व्यक्ति को अपना मुखौटा हटाने में एक गंभीर चोट लगने का दुखद अनुभव होगा। भारतीय चिन्तन-परम्परा के अनुसार इसकी तुलना एक ऐसे साधक से की जा सकती है, जिसने सामाजिक महत्वाकांक्षाओं को अपने जीवन में अत्यधिक महत्व दे दिया हो। भारतीय साधनापथ के अनुसार भी आत्मदर्शन के लिये व्यक्ति को अपनी सामाजिक महत्वाकांक्षाओं से विरक्त होने का आग्रह किया गया है। व्यक्ति का किसी विशेष कुटुम्ब में जन्म होने से तथा तदनुसार कर्म में प्रवृत्त होने से उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा होती है, जिसका केवल आंशिक महत्व ही स्वीकार किया गया है, किन्तु आत्मज्ञान अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिये व्यक्ति को इन सभी सामाजिक बन्धनों से उठने तथा नाम, रूप, जाति, वर्ण, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि को 'देहभाव' कह कर इन संस्कारों को एक मात्र सर्वव्यापक आत्मा की सर्वोपरि महत्ता की तुलना में महत्वहीन माना है। युंगीय साधनापथ के अन्तर्गत परसोना (मुखौटा) तथा शैडो (छाया) समस्याओं से भी व्यक्तित्व के बन्धनों की जानकारी मिलती है, और इस

लिये इनकी सम्यक् समझ से ही व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन किया जाना संभव माना गया है। व्यक्तित्व उसके स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से परे एक मौलिक इकाई है, जिसकी पहिचान स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर अथवा जाग्रत या स्वप्नावस्था आदि समस्याओं की मुक्ति से ही संभव है। अतः जिस प्रकार आत्मदर्शन के लिये भारतीय चिन्तन के अनुसार 'सामाजिक प्रतिष्ठा' को उपाधि (बन्धन) माना गया है, उसी प्रकार युंगीय पद्धति के अन्तर्गत व्यक्तित्व की सम्यक् जानकारी के लिये परसोना तथा शैडो को तथा इनकी समस्याओं को बन्धन माना है।

जीवन-साधना की प्रणाली से सम्बन्धित भारतीय दृष्टिकोण तथा युंगीय पद्धति में स्पष्ट अन्तर है। भारतीय चिन्तन के अन्तर्गत अवचेतन स्तरीय छाया समस्या के बाबत कोई विवेचन नहीं किया गया है, जबकि युंगीय पद्धति के अन्तर्गत मुखौटा तथा छाया समस्या के हल के लिये आग्रह पाया जाता है। इसके अलावा अभिवृत्ति की दृष्टि से इन दोनों पद्धतियों में सुस्पष्ट अन्तर है। भारतीय चिन्तन के अनुसार मुक्ति अथवा मोक्ष का ही सर्वोच्च महत्व है अतः अन्य सभी समस्याओं को गौण मानते हुये इनका समाधान मुक्ति के सन्दर्भ में ही खोजने का प्रयत्न किया गया है। भारतीय दृष्टिकोण में मुक्ति का ही सर्वोच्च मूल्य है, अतः कोई क्या करता है, या कर रहा है, इसके बजाय किस भाव से वह कर रहा है, इसको अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। युंग के विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया गया है। शिष्य द्वारा प्रश्न किये जाने पर कि उसको क्या करना है? गुरु का सदैव यही उत्तर रहता है कि "कुछ भी नहीं करना है" जो कुछ हो रहा है वह भगवान की कृपा-दृष्टि से हो रहा है। भारतीय चिन्तन में अवचेतन स्तरीय व्यापार, स्वप्न, अन्तर्चित्र तथा प्रतीकों आदि पर कोई विचार नहीं किया गया है, और इस प्रकार अवचेतन चित्त के क्रियाकलापों के बाबत कोई महत्व नहीं दिया गया है।[1]

---

1. भारतीय चिन्तन में जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं को माना गया है, तथा जो है, उसको इन तीनों अवस्थाओं से परे माना गया है। आत्मा इन तीनों अवस्थाओं से परे—अगम्य तत्व—है और तीनों अवस्थाएँ आत्मा से सर्वत्र अलग, उसकी ही स्थितियाँ (अवस्थाएँ) हैं; तथा यह तीनों अवस्थाएँ केवल अवस्था मात्र होने से एक सरीखी तथा समान हैं। किन्तु पाश्चात्य चिन्तन-परम्परा में जाग्रतावस्था को स्वप्नावस्था एवं सुषुप्ति-अवस्था की अपेक्षा अधिक वास्तविक एवं सत्य माना गया है, और स्वप्नावस्था एवं सुषुप्ति अवस्था को अपेक्षाकृत गौण माना गया है। युंगीय प्रक्रम के अन्तर्गत व्यक्ति स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्था से ऊपर उठने के पश्चात ही जाग्रतावस्था के स्तर पर ही यह अनुभव कर पाता है कि वह अबतक स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवास्तविक अवस्था में था, और जाग्रतावस्था में ही वह वास्तविकता अथवा सत्य को अनुभव कर सकता है।

निसन्देह गुरु की दृष्टि शिष्य के चेतन—अवचेतन सभी स्तरों का भेदन करने के लिये सक्षम है, अतः गुरु शिष्य की सभी परिस्थितियों को जान सकते हैं और उनको शिष्य के चेतन अवचेतन सम्बन्धी सभी क्रियाकलापों की पूरी जानकारी रहती है, अतः गुरु शिष्य की सभी स्थितियों का अवलोकन करते हुये शिष्य को निरन्तर सावधान करते हैं कि बाह्य जगत से राग रखकर कोई भी व्यक्ति अपनी सही पहिचान नहीं कर सकता क्योंकि स्वयं को बाहर से नहीं खोज सकता। समय समय पर गुरु व्यक्ति द्वारा अंगीकृत परसोना (मुखौटे) की समस्याओं को भी सुलझाता है कि आवश्यकतानुसार अपनाए गये मुखौटे का केवल आंशिक महत्व है अतः इसको समयानुसार अलहदा किया जाना चाहिये। इसी तरह भारतीय चिन्तन के अनुसार जाति, वर्ण, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि को आध्यात्मिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है। गुरु द्वारा निरन्तर शिष्य को यही बोध दिया जाता है कि केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से ही वह ब्राह्मण नहीं बन गया, अपितु जो ब्रह्मज्ञानी है तथा जिसका जीवन ब्रह्म के प्रकाश में व्यतीत होता है, वहीं सच्चा ब्राह्मण है। इसी प्रकार क्षत्रिय उसी को माना जायगा जो शारीरिक एवं बौद्धिक शक्ति का उपयोग स्वयं के प्रकाशयुक्त आत्मज्ञान हेतु करने के लिये सदैव जागरूक हो। भारतीय गुरु अपने शिष्य को दिन प्रतिदिन की पारिवारिक, सामाजिक एवं व्यावसायिक समस्याओं के समाधान में नहीं उलझाता, क्योंकि इन व्यावहारिक समस्याओं का उसकी नज़र में कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

भारतीय चिन्तन के अनुसार जो कुछ घटित हो रहा है, उसको प्रारब्ध के अधीन कार्यफल कहा गया है, इसलिये चेतन तथा अवचेतन सम्बन्धी छाया समस्याओं का समाधान प्रारब्ध कर्मोंपर छोड़ा गया है। भारतीय मान्यतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को नियति द्वारा निर्धारित अपने अपने प्रारब्ध कर्मों को भुगतना ही पड़ता है। अतः व्यक्ति के जन्म के साथ उसके लिये जिन कर्मों की कड़ी प्रारम्भ हो गई है, उसे तो उस व्यक्ति को भुगतना ही पड़ेगा, ऐसा विश्वास है। प्रारब्ध की गति को कोई नहीं रोक सकता। प्रारब्ध कर्म धनुष से छोड़े गये उस बाण के समान है जिसको वापस लौटाया ही नहीं जा सकता। भारतीय चिन्तन के अनुसार व्यक्ति मात्र के जन्म के साथ उसके कर्मों की एक श्रृंखला चालू हो जाती है, जिनको रोका ही नहीं जा सकता, किन्तु इन्हें त्याग द्वारा दग्ध-बीज किया जा सकता है। इस प्रकार शिष्य साधक को अपने प्रारब्ध कर्मों को भुगतना ही पड़ता है, और गुरु द्वारा शिष्य के लिये निर्धारित कर्मों में किसी प्रकार का फेरबदल किया जाना सम्भव नहीं है। किन्तु भारतीय गुरु अपनी ऊँची समझ से शिष्य को इस कर्म-भोग के दौरान अपने विवेकपूर्ण बोध के द्वारा

उसको द्वन्द्वों से ऊपर उठाकर यह समझा देता है कि वह कर्म की गति को रोकने का प्रयत्न न करे, तथा कर्म की उलझनों में भी धैर्य के साथ जो कुछ घटित हो रहा है, उसके दु:खद प्रभाव से सहज भाव से अपने आप को अलग रखने का ध्यान रखे और इस प्रकार जो कुछ घटित हो रहा है, उसको तटस्थ भाव से स्वीकार करते हुये उसकी परेशानियों से बचा रहे। गुरु के विवेकपूर्ण बोध के दौरान शिष्य को धैर्य और अद्‌भुत सहनशक्ति प्राप्त होती है, और इस प्रकार उसके सुख दु:ख की अनुभूति कम हो जाती है, और प्रारब्ध कर्मों के अनिवार्य भोग से अनुभव प्राप्त करते हुए वह अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये निरन्तर आगे बढ़ता रहता है।

युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत परसोना (मुखौटा) तथा शैडो (छाया) की समस्याओं की मुठभेंड़ द्वारा व्यक्ति अपने अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु से पहिचान कर पाता है। मुखौटा तथा छाया की समस्याओं के समाधान के दौरान व्यक्ति अपने अवचेतन स्तरीय अधिक गहरी सामग्री का अनुभव स्वप्नों अथवा काल्पनिक आकृतियों के रूप में करता है, जिन्हें युंग ने 'एनीमा' तथा 'एनीमुस' संज्ञाओं से सुस्पष्ट किया है।

मानवीय व्यक्तित्व के विकास के लिये चिन्तन–विवेक (Thinking) तथा भावना (Feeling) के सम्यक् सामञ्जस्य की जरूरत है, ताकि व्यक्ति के मस्तिष्क पक्ष और हृदयपक्ष दोनों का योग्य सन्तुलन स्थापित हो सके। मानवीय अनुभवों के आधार पर युंग ने प्रतिपादित किया है कि प्रायः पुरुष में चिन्तनशक्ति (बुद्धि= विवेक) की तथा महिलाओं में भावना की प्रधानता पायी जाती है, अर्थात् चेतन स्तर पर पुरुष अधिक चिंतनशील तथा महिला अधिक भावमयी पायी जाती है।[1] विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के निष्कर्षों के अनुसार जिस प्रकार का बाहुल्य व्यक्ति के चेतन स्तर पर है उसके ठीक विपरीत प्रकार का बाहुल्य उसके अवचेतन पर खोजा जाना चाहिये। ताकि चेतन तथा अवचेतन स्तरों के बीच योग्य सन्तुलन बना रह सके। अतः चिन्तन-प्रधान (पुरुष) के अवचेतन स्तर पर भावनाप्रधान 'नारीतत्व' (शक्ति) की छवि की मौजूदगी युंग ने प्रतिपादित की है, जिसको उसने 'एनीमा' कहा है। इसी प्रकार भावना प्रधान नारी के व्यक्तित्व के सन्तुलन को बनाये रखने के लिये उसके अवचेतन पर 'नरतत्व' (शिव) की छवि होना माना गया है, जिसको युंग ने 'एनीमुस' संज्ञा से घोषित किया है। भारतीय दार्शनिक शब्दावली के अनुसार चिन्तन को कल्याण अथवा 'शिव तत्त्व' तथा भावना को शक्ति अथवा 'शिवातत्व' कहा जा सकता है, जिसकी उपस्थिति क्रमशः प्रत्येक नर तथा नारी के अवचेतन स्तर

---

1 यह अनुभव गम्य सत्य है। वातावरण एवं सामाजिक रुढ़ि के कारण पुरुष में वृद्धि-विवेक का तथा नारी में भावना की निसन्देह प्रधानता पायी जाती है।

पर मानी गई है। इसके अलावा युंग की मान्यतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के चेतन तथा अवचेतन के बीच परस्पर आकर्षण के कारण चित्त में शक्ति का स्वतः प्रवाह होता रहता है, जिसके फलस्वरूप चित्त की इकाई बनी रहती है। अतः व्यक्तित्व-विकास के क्रमानुसार प्रत्येक पुरुष अपने अन्तर में निहित शक्ति (शिवातत्व) के लिये तथा प्रत्येक नारी अपने अवचेतन स्तरीय कल्याण (शिवतत्व) के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की क्रिया में स्वतः रत है अर्थात् प्रत्येक पुरुष अपने अवचेतन स्तरीय क्रिया शक्ति (शिवा) के लिये तथा प्रत्येक नारी अपने अन्तर में निहित कल्याण (शिव) के साथ अधिक से अधिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये तरसती तड़फती है। इस प्रकार पुरुष भावनात्मक जगत के साथ तथा नारी अपने अन्तर्निहित विवेक के साथ सम्बन्ध करते हुए व्यक्तित्व-विकास की पूर्णता एवं ईकाई की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

अवचेतन स्तर से उभरती हुई घटनायें जिसकी अनुभूति व्यक्ति को स्वप्नों अथवा काल्पनिक आकृतियों के माध्यम से नर अथवा नारी के रूप में होती है, उन्हें युंग ने 'एनीमा' तथा 'एनीमुस' कहा है। युंगीय विश्लेषण के अन्तर्गत जब स्वप्नों, कल्पनाओं तथा सत् सम्बन्धी क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाता है तब इस प्रकार 'एनीमा' 'एनीमुस' के निर्माण में सामूहिक अवचेतन में स्थित मूल प्रारूपों की महत्व-पूर्ण भूमिका का पता लगता है, इसलिये स्वप्नों तथा कल्पना-चित्रों के अर्थ को समझने के लिये सामूहिक अवचेतन की अन्तर्वस्तु पर ध्यान दिया जाना परमावश्यक है। युंग ने 'एनीमा' और 'एनीमुस' को चेतन तथा अवचेतन के बीच सम्बन्ध कराने वाली 'बीच की कड़ी' माना है, अर्थात एनीमा तथा एनीमुस के माध्यम से अवचेतन अन्त-र्वस्तु का उभार अनुभव किया जा सकता है, जिसका कालान्तर में जाकर चेतन तथा अवचेतन की एकरूपता का दर्शन व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में ही होना सम्भावित माना गया है। अर्थात् जब अवचेतन की सम्पूर्ण अन्तर्वस्तु को जान लिया जाता है, तभी व्यक्तित्वविकास की समग्रता अथवा इकाई की अनुभूति हो सकती है। व्यक्ति द्वारा अपने सम्पूर्ण अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु की यथार्थ एवं पूर्ण जानकरी को ही आत्मदर्शन अथवा स्व-साक्षात्कार कहा जायगा।

युंगीय मनोविश्लेषणविज्ञान द्वारा प्रतिपादित 'एनीमा' तथा 'एनीमुस' की छबियाँ व्यक्ति विशेष के अवचेतन स्तर पर स्थित आन्तरिक आकृतियाँ हैं जिनका प्रक्षेपण प्रायः बाह्य जगत के व्यक्तियों पर हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति को गंभीर समस्याओं तथा संघर्षों में उलझना पड़ता है, इसलिये व्यक्ति को एक ओर उन बाहरी व्यक्तियों के साथ (जिनपर एनीमा–एनीमुस की आन्तरिक आकृतियों का प्रक्षेपण हुआ है) अपने सही सम्बन्धों की जामकारी कर लेनी चाहिये तथा दूसरी

और अपने अवचेतन स्तर से उभरने वाली इन आकृतियों का सही अर्थ और प्रयोजन जान लेना चाहिये। क्योंकि बाहरी व्यक्तियों के सम्बन्धों की सही स्थिति तथा आन्तरिक आकृतियों के प्रयोजन की सही जानकारी वगैर न तो वह बाहर से सम्यक् प्रकार से सामञ्जस्य रख सकता है और न स्वयं तथा उसके अवचेतन स्तरीय स्थिति के बीच तालमेल रख सकता है, इसलिये उसको अपने से बाहर तथा अन्दर के सम्बन्धों के सही स्वरूपों की पहिचान कर लेनी चाहिये, ताकि वह बाह्य तथा आन्तरिक जगत की सही स्थितियों तथा सम्बन्धों की वास्तविक जानकारी से ही अपने विचारों तथा भावनाओं का सन्तुलन बनाये रखने में सक्षम हो सके। एनीमा के सभी प्रक्षेपणों का स्वीकारात्मक अथवा निषेधात्मक पहलू होता है किन्तु इसका कोई अर्थ हीं सुस्पष्ट नहीं हो पाता क्योंकि इनका सम्बन्ध व्यक्ति के अवचेतन स्तर से है। इसलिये मनोविश्लेषक को उक्त प्रक्षेपणों से होने वाले प्रभाव से मुक्त होकर तत्कालीन परिस्थितियों तथा चेतन स्तर पर उभरती हुई इन प्रतिमाओं के सही तथा सच्चे स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

'एनीमा' तथा 'एनीमुस' आकृतियों का यदि सही प्रकार से विश्लेषण किया जाय तो इनके प्रयोजन की तुलना भारतीय पद्धति के अन्तर्गत चेतन स्तर पर होने वाले पारिवारिक मोह-बन्धनों से मुक्त होने तथा सामूहिक चेतन तथा अवचेतन स्तरों पर परम्परागत नैतिक मूल्यों से ऊपर उठने के दृष्टिकोण से की जा सकती है। व्यक्ति-विकास के दौरान चेतन स्तरीय सामाजिक एवं पारिवारिक मोह-बन्धनों से प्रयत्न करने पर मुक्त हो सकता है। किन्तु उसके लिये अवचेतन स्तरीय नैतिक मूल्यों से स्वतन्त्रता प्राप्त करना कठिन है।

युंगीय मनोविश्लेषण के अन्तर्गत एनीमा तथा एनीमुस प्रतिमाओं का सम्बन्ध अवचेतन स्तरीय मूल प्रारूपों की अन्तर्वस्तु से पाया गया है। इन आकृतियों को अवचेतन स्तरीय मूल प्रारूप (आर्कीटाइप) का नक्षत्र समूह कहा गया है। युंगीय घटना-क्रियाविज्ञान (Phenomenology) के अन्तर्गत मूल प्रारूप को सनातन ज्ञान पुरुष (The were old man) तथा महान मातृशक्ति (The Great mother) की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। अवचेतन के मूलाधार में स्थित सनातन ज्ञान पुरुष (शिव) तथा महान मातृशक्ति (शिवा) की प्रतिमाओं के साथ व्यक्ति द्वारा साक्षात्कार किया जाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इस प्रकार के अद्‌भुत अनुभव को आत्मसात करने के लिये पूर्ण विकसित विवेक तथा असीम साहस युक्त दृढ़ीभूत विवेकपूर्ण अहम् के निर्माण की अनिवार्य आवश्यकता है, अन्यथा सामूहिक अवचेतन से उद्भव होने वाले इस विराट् तथा अद्‌भुत अनुभव से सामान्य व्यक्तित्व

अभिभूत (प्रभावित) होकर अस्तव्यस्त अथवा मानसिक दृष्टि से रोगग्रस्त हो सकता है, इसलिये अन्तरतम अवचेतन स्थित इन प्रतिमाओं की अनुभूति के लिये व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास की भूमिका का प्राप्त किया जाना जरूरी है ताकि दृढीभूत विवेक युक्त अहम् सामूहिक अवचेतन की हलचलों से अप्रभावित रहते हुए मूलाधार में स्थित इन आदि प्रारूपों की प्रतिमाओं के अनुभवों के अर्थ को समझ सके। पुराण विद्या के अन्तर्गत स्व-साक्षात्कार प्रक्रम को शून्यावस्था अथवा 'रात्रि समुद्र यात्रा' (Night sea journey) कहा गया है। व्यक्तिकरण प्रक्रम अथवा व्यक्तित्व विकास की उच्चतम भूमिका के दौरान व्यक्ति द्वारा अपने ही अन्तरतम अवचेतन की खोज किया जाना निसन्देह एक भयावह अंधकारपूर्ण अनुभव है जिसमें अनेक संकट तथा खतरे हैं। रात्रि-समुद्रयात्रा अपने ही अवचेतन के गहरे समुद्र में घुसकर गहराई तथा अंधकार में रहने वाले भयंकर जल-जन्तुओं तथा विराट ह्वेल मछलियों से मुठभेड़ किये जाने वाले भयावह एवं आशंकापूर्ण अनुभव के समान है। अवचेतन निःसन्देह अनजाना, अज्ञात तथा गहन अंधकार युक्त स्थल है जिसमें अनेक ऐसी अद्‌भुत तथा भयावह आकृतियों की स्थिति है, जिसके बारे में स्वप्न में भी कल्पना किया जाना कठिन है। अतः अवचेतन के गहनतम समुद्र में यात्रा किया जाना एक भयावह अनुभव है जिसको केवल दृढीभूत अहम्‌युक्त पूर्ण विकसित व्यक्ति ही अपने पूर्ण जाग्रत विवेक तथा असीम साहस की क्षमता के आधार पर ही इन गहराईयों में यात्रा करते हुए इसके मूलाधार में पड़े हुए रत्नों को पहिचानते हुए इनको चेतन के प्रकाशयुक्त स्तर पर लाने के महत् कार्य में सफल हो सकता है।[1]

अवचेतन-स्थित अन्तर्वस्तु की अनुभवात्मक समझ के दौरान प्रायः ऐसी स्थितियाँ भी उपस्थित हो जाती हैं जब कि विश्लेषक[2] के लिये साधक अथवा रोगी के जीवन में घटित अद्‌भुत क्रियाकलापों को केवल तटस्थ भाव से देखते रहने तथा

---

1 युंगीय विकासक्रम के अन्तर्गत 'रात्रि समुद्र यात्रा' का अनुभव भारतीय चिन्तन के 'शून्यावस्था' के अनुभव के समान है, जिसका विशद विवरण कतिपय पुरातनों में किया गया है। इस प्रकार के अनुभव के माध्यम से ही व्यक्ति-अथवा साधक अपने देहभाव से उपर उठकर सर्वव्यापक आत्मदृष्टि को प्राप्त कर सकता है। जो स्वप्न एगं सुषुप्ति अवस्था से परे तुरीयावस्था में ही संभव है।

2. युंगीय मनोविज्ञान के क्षेत्र में नवीन अनुसंधानों के आधार पर 'विश्लेषक' शब्द अब उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि युंगीय विश्लेषक साधक के लिये वस्तुतः एक दर्पण के समान साक्षी का प्रतीक है, जैसाकि भारतीय चिन्तन-परम्परा में गुरु का स्थान है,

साधक द्वारा वर्णित स्वप्नों तथा आर्तचित्रों की व्याख्या स्पष्ट करने के अलावा उसके लिये साधक की मदद करने का कोई रास्ता ही नहीं रहता क्योंकि किसी भी विश्लेषक द्वारा साधक के अवचेतन में घटित घटनाचक्र को नियंत्रित किया जाना संभव नहीं है। उपरोक्त स्थिति में विश्लेषक केवल साधक को यही परामर्श दे सकता है कि साधक के अवचेतन स्तर से जो अभिव्यक्त हो रहा है, वह उसे खुले मन से स्वीकारता चले तथा भविष्य में जो घटनाचक्र घटित हो जाय उसका धैर्य पूर्वक मुकाबला करे अर्थात् साक्षी भाव से उसका अनुभव करे। अवचेतन स्तरीय होने वाली उथल-पुथल को भलीभाँति समझने के लिये सक्रिय कल्पना (Active Imagination) की मदद लेना उपयोगी सिद्ध हो सकता है। सक्रिय कल्पना के द्वारा अवचेतन स्तरीय क्रियाकलापों को अधिक गहराई के साथ अनुभव किया जा सकता है, तथा अवचेतन स्तरीय अनुभव की चेतन स्तर पर अधिक सुस्पष्टता से व्याख्या की जा सकती है? इस स्तर पर कभी कभी विश्लेषक तथा साधक दोनों को विषम परिस्थितियों के जाल में उलझ भी जाना पड़ता है, जिसके परिणाम स्वरूप विश्लेषक तथा साधक के आपसी रिश्ते दोषपूर्ण हो जाने की आशंकाएँ हो सकती हैं, इसलिये विश्लेषक को पूर्णरूप से जागरूक तथा विवेकाधीन रहना चाहिये ताकि साधक के अवचेतन स्तरीय विवेकहीन क्रियाकलापों का असर विश्लेषक के जागरूक चेतन पर न हो सके और इस प्रकार वह साधक को भी विवेकहीन परिस्थितियों के जंजाल से उबार सके?

अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु की खोज किया जाना 'रात्रि समुद्री यात्रा' की तरह एक जोखम भरा कार्य है। इस प्रकार की सभी खोजों अथवा यात्राओं के नतीजे कभी भी समान अथवा एक से नहीं निकल सकते। प्रत्येक व्यक्ति के अवचेतन स्तर की बनावट अलग अलग प्रकार की पायी जाती है, अतः उसके अवचेतन की अभिव्यक्तियाँ भी भिन्न भिन्न रूपों में होती हैं। युंगीय मनोविज्ञान पाश्चात्य विज्ञान है, इसलिये युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत चेतन तथा अवचेतन चित्त के अनुभवों का वैज्ञानिक अध्यन किया जाता हैं। युंगीय मनोविज्ञान की अभिरुचि अलग अलग व्यक्ति के चित्त की वैज्ञानिक जानकारी प्रस्तुत करना है, इसलिये युंगीय मनोविज्ञान में किसी लोकसंगत अथवा परम्परागत रहस्यवादी एकसा परिणाम निकाले जाने का कोई आग्रह नहीं है। भारतीय चिन्तन के अनुसार समस्त मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य "मुक्ति" अथवा मोक्षप्राप्ति माना गया है। किन्तु युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों के लिए किसी सामान्य लक्ष्य का निर्धारण किये जाने की कोई गुंजाइश हो नहीं हैं। इसलिये युंगीय चिन्तन में व्यक्ति को उसके चित्त (Psyche) के सम्पूर्ण स्वरूप को चेतन स्तर पर समझ लेने का आग्रह किया गया है। युंगीय चिन्तन में केवल चित्त की सत्ता को स्वीकार किया गया है; जिसके माध्यम से व्यक्ति बाह्य तथा

अन्तर्जगत का अनुभव करता है। भारतीय चिन्तन में आत्मा की सर्वोपरि सत्ता को आरंम्भ से ही मान लिया गया है, और इसलिये यहाँ पर चित्तीय-अनुभव को कोई महत्व नहीं दिया गया है, किन्तु युंगीय चिन्तन के अनुसार चित्त के भिन्न भिन्न स्तरीय अनुभवों के आधार पर ही सत्य की खोज की जा सकती है और इस प्रकार स्वयं के अनुभव पर आधारित वैयक्तिक सत्य (Individual Truth) का महत्व श्रुति-संगत लौकिक सत्य (General Truth) की अपेक्षा अधिक माना गया है। भारतीय चिन्तन के अनुसार चित्त की चार अवस्थायें मानी गई है, यथा:-, 1. जाग्रत 2. स्वप्न 3. सुषुप्ति तथा 4 तुरीयावस्था। किन्तु भारतीय चिन्तन में इन चारों अवस्थाओं को आभास अथवा माया कह कर इसके प्रति उपेक्षा बर्ती गई है तथा केवल द्रष्टा (आत्मा) की परम सत्ता को शुरू से ही मान लिया गया है, इसलिये पूर्व में चित्त को निसन्देह गौण माना गया है, किन्तु पाश्चात्य विज्ञान के अन्तर्गत सत्य की खोज के लिये चित्त पर आधारित व्यक्ति की अनुभूति को ही बड़ा महत्व दिया गया है। [1]

जब कभी किसी व्यक्ति के जीवन में ऐसी विषम समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं जिनका वह कोई हल नहीं निकाल पाता तब वह भयावह अन्धकार तथा बेचेनी का अनुभव करने लगता है। बैचेनी के दुःखद अनुभव के दौरान कभी कभी व्यक्ति कतिपय अन्तर्जगत की आकृतियों (Figures) तथा प्रतिमाओं (Images) के प्रति सक्रिय रूप से आकर्षित होता है, और आकृतियों तथा प्रतिमाओं की मदद से उसकी समस्याओं के समाधान में मदद मिलती है। युंगीय मनोविज्ञान के अनुसार मानवीय जीवन समस्याओं की एक शृंखला है, अतः व्यक्ति के जीवनकाल में सभी समस्याओं के अन्त हो जाने की 'कोई' संभावना ही नहीं है। एक समस्या का समाधान होते ही पुनः दूसरी समस्या का उदय हो जाता है, अत: व्यक्ति को जन्म से मृत्यु तक निरन्तर भिन्न भिन्न समस्याओं के समाधान के लिये लगे रहना पड़ता है; किन्तु प्रत्येक समस्या के हल के साथ उस व्यक्ति के चेतन चित्त के सीमा क्षेत्र का विस्तार हो जाता है तथा उसके ज्ञान एवं विवेक की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। तथा व्यक्ति के चेतन के विस्तार तथा विवेक ज्ञान की वृद्धि की चरम परिणिति को आत्मानुभूति

---

1. यहाँ पर यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि अवचेतन स्तर की समझ के साथ व्यक्ति का अहं दृष्टिकोण बदल कर वह साक्षीभाव तथा उसके परे की स्थिति का अनुभव करने लगता है जिसके फलस्वरूप साधक अपने देहभाव एवं भव दृष्टि से ऊपर उठ जाता है, इस प्रकार युंगीय साधनापथ तथा भारतीय गुरु मार्ग में आश्चर्य जनक समानता पाई जाती है।

अथवा आत्मदर्शन कहा जा सकता है। युंगीय परम्परा के अनुसार आत्मानूभूति[1] अथवा आत्म दर्शन के पश्चात् भी मानव जीवन समस्याओं से छुटकारा नहीं पा सकता, जबकि भारतीय परम्परा के अनुसार आत्मदर्शन के पश्चात् की मुक्ति अवस्था को असीम शान्तिपूर्ण तथा दिव्य आनन्दमयी स्थिति माना गया है, और इस पूर्णावस्था में सभी समस्याओं का अन्त माना गया है। भारतीय तथा युंगीय परम्पराओं में समस्याओं की स्थिति के बाबत इस मौलिक भेद का अब यहाँ विवेचन किया जाना योग्य है। युंगीय विश्लेषण-प्रक्रम की तुलना एक गोल सीढ़ी से की जा सकती है, व्यक्ति को जिसके अन्तर्गत एक ही समस्या का मुकाबला उसके संवेदना, विचार, भावना तथा अन्तःप्रज्ञा आदि भिन्न भिन्न कार्य स्तरों (Functional levels)[2] के आधार पर अलग अलग प्रकार से अनुभव करना पड़ता है। इसलिये इस प्रसंग में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि व्यक्ति ने उपरोक्त चारों प्रकार के कार्य स्तरों का अनुभव प्राप्त कर लिया है तो उसकी समस्या विषयक क्या स्थिति रहेगी?[3] इस प्रश्न के खुलासे में यह कहा गया है कि काल का कोई अन्त नहीं है क्योंकि समय अनन्त है जबकि जीवन का अन्त मृत्यु है।

अतः जब तक जीवन रहेगा तब तक जीवन में निरन्तर समस्यायें बनी रहेंगी और जीवन के अन्त के साथ अर्थात् मृत्यु के पश्चात् ही जीवन की सभी समस्याओं का अन्त हो जायगा? किन्तु समय कालातीत है तथा जीवन कालाधीन है, इसलिए समय आने पर जीवन के अन्त के साथ सभी समस्याओं के अन्त हो जाने की धारणा स्वीकार की जा सकती है। युग के नव्य अनुभव के आधार पर कालाधीन जीवन तथा समस्याओं की सम-सामयिकता (Syncronicty) के सिद्धान्त के विकास की संभवना है, किन्तु युंग ने केवल अनुभव के आधार पर ही इस सिद्धान्त को स्वीकार किये जाने का आग्रह किया है।

युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत 'रात्रि समुद्र यात्रा' के भयावह एवं बेचैनीपूर्ण अनुभव की तुलना तंत्र शास्त्र में प्रतिपादित 'स्वाधिष्ठान चक्र' के अनुभव से की जा सकती है? 'स्वाधिष्ठान चक्र' का वाहन 'मकर' (जल जन्तु) माना गया है। इसी प्रकार प्रायः पाश्चात्य रहस्यवादी साहित्य द्वारा समर्पित सेंट जाँन आफ दी क्रास में वर्णित 'आत्मा की अंधकार पूर्ण रात्रि (Dark night of the soul) को युंगीय रात्रि समुद्र यात्रा के समकक्ष माना जा सकता है।

---

1 Jung : Two Essays on Analytical psychology : 2nd Essay

2 ,, Psychological Types : Defination 23

3 ,, Psycholgical Types : Defination 14

अन्तर्जगत से उभरती हुई बेचैनी के अनुभव के दौरान साधक अथवा व्यक्ति को इस अन्धकारपूर्ण स्थिति से किस प्रकार उबारा जाय इस सम्बन्ध में पूर्वीय एवं पाश्चात्य पद्धतियों में बड़ा अन्तर है। विज्ञान-सम्मत पाश्चात्य चिन्तन में इस प्रकार के भयावह एवं अंधकार पूर्ण अनुभव को समझने के लिए स्वप्न विश्लेषण (Dream Analysis अथवा सक्रिय कल्पना) की मदद ली जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप साधक अथवा व्यक्ति के समक्ष समान आकर्षणयुक्त एक दूसरी विपरीत स्थिति खड़ी हो जाती है और इस वैकल्पिक स्थिति के आविर्भाव के कारण व्यक्ति, अबतक जिस वस्तु के प्रति आकर्षित होकर जिसके पीछे भागता रहा है, उस वस्तु के प्राप्त होने पर भी वह उसके प्रति अरुचिशील होकर पूर्व वांछनीय वस्तु की उपलब्धि को सारहीन अनुभव करने लगता है। उस समय व्यक्ति के लिए पूर्व बाह्य आकर्षण तथा विश्लेषण के उपरान्त बाद की आन्तरिक माँग के बीच का चुनाव किये जाने की विकट समस्या खड़ी हो जाती है अतः उसको विषम वेदना तथा गंभीरतम जटिलता की परेशानी के अनुभव से गुजरना पड़ता है क्योंकि पूर्व तथा बाद की स्थितियों में से किसी भी एक विकल्प का चुनाव किया जाना उसके लिए अत्यन्त जटिल एवं कठिन कार्य है क्योंकि उभय विकल्प गुण-दोषों के आधार पर समान रूप से आकर्षक अथवा रुचिहीन प्रतीत होते हैं। व्यक्ति अथवा साधक की इसप्रकार की परिस्थिति निःसन्देह भयावह एवं अन्धकार पूर्ण रहती है, क्योंकि उनके लिये इस प्रकार की समस्या का किसी भी प्रकार से हल निकाला जाना संभव नहीं रहता। व्यक्ति और साधक की इस प्रकार की असहायपूर्ण परिस्थिति में जब उसको अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु अथवा कतिपय अद्भुत अनजानी आकृतियों का दर्शन होता है तब उसको पर्याप्त साहस और धैर्य के साथ तथा पूर्ण जागरूक विवेक के साथ इन विचित्र अनुभवों को तटस्थतापूर्वक स्वीकार करना चाहिये, ताकि वह अवचेतन स्तरीय हलचलों से अप्रभावित रह सके और उसका व्यक्तित्व क्षतिग्रस्त न हो सके।

उपर्युक्त परिस्थितियों में भारतीय साधना-पद्धति के अन्तर्गत गुरु के योगदान का विशेष महत्व है। प्रारंभ से ही गुरु द्वारा साधक को यह भान कराया जाता है कि वह किसकी खोज कर रहा है तथा इस खोज के पीछे क्या सच्चाई है। गुरु सभी परिस्थितियों का विश्लेषण अपनी निजी अनुभव-परम्परा तथा अपने जीवन दर्शन के आधार पर करता है, तथा वह साधक के द्वारा किये जाने वाले अनुभवों की योग्य व्याख्या तथा समझाइश करते हुये उसको साधना-पथ पर आगे बढ़ने के लिये मार्गदर्शन देता है। साधक के लिये गुरु ही साक्षात् सशरीर परमात्मा है, वह उसके लिए आत्मवस्तु का ज्वलंत जीता जागता अनुभव है। गुरु अर्थात् आतमा में सभी द्वन्द्वों का विराम है। गुरु

को शाश्वत शान्ति एवं अनन्त प्रेम का सागर कहा गया है। गुरु अपने मन, वचन और कर्म द्वारा साधक को साधना-पथ पर आगे बढ़ाते हुये उसे सदैव याद दिलाता रहता है कि मुक्ति ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, जिसकी उपलब्धि के लिये उसको निरन्तर साधना-पथ पर लगे ही रहना है। गुरु के स्नेहमय विशाल हृदय के अनुभव के फलस्वरूप साधक की गुरु के प्रति असीम श्रद्धा-भावना बनी रहती है, और इस प्रकार गुरु के प्रेममय सान्निध्य में व्यक्ति (साधक) अपने आन्तरिक द्वन्द्वों और अहंभाव को निरन्तर कम करने लगता है। प्रायः यह भी अनुभव किया गया है कि एक ओर साधक गुरु के अगाध प्रेम से आकर्षित होकर जब श्री गुरु के चरणों का स्पर्श करता है तब उसे असीम शान्ति तथा दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है, किन्तु इसी काल के दौरान व्यक्ति के अहम् पर आघात पहुँचने के फलस्वरूप साधक के कतिपय क्लेशों का भी उद्रेक प्रारंभ हो जाता है। व्यक्ति के अहम् के साथ ही उसकी सभी लालसायें एवं वासनायें जुड़ी रहती हैं, अतः जब साधक के अहम् पर चोट पड़ती है तब उसकी सभी वासनाएँ, इच्छायें उभर कर रागद्वेषों के बवंडर के रूप में उसको व्यथित तथा परेशान करने लगती हैं। दबायी गई वासनाओं और राग-द्वेषों के उद्रेक से व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है मानो उसके अन्दर एक प्रकार की अग्नि ही प्रज्वलित हो उठी है, और वह इस आग में झुलसा जा रहा है। साधक के जीवन की कसौटी के इस काल में गुरु की उल्लेखनीय भूमिका यही है कि वह साधक को इस प्रकार उभरने वाले क्लेशों को जला देने के कार्य में सहयोग एवं मार्ग-दर्शन प्रदान करें। गुरु-सान्निध्य के पश्चात् साधक के अन्दर धधकती हुई इस प्रेमाग्नि में उसके सभी दोष, उसकी सभी वासनाएँ, इच्छायें भस्म कर दी जानी चाहिये। व्यक्ति के अहम् के साथ ही साथ सभी रागात्मक बन्धन जुड़े रहते हैं और रागात्मक सम्बन्धों को छोड़ते समय व्यक्ति को असह्य पीड़ा का अनुभव होता है क्योंकि अहम् अपने रागात्मक बन्धनों को इस प्रेमाग्नि से बचाये रखना चाहता है, किन्तु मुक्ति के लिये बन्धनों का नाश किया जाना जरूरी है, इसलिये साधना की इस मंजिल पर कृपालु गुरु निरन्तर साधक के सन्निकट रह कर उसको बड़े प्रेम और सहानुभूति के साथ अहंग्रस्त विकारों और वासनाओं को नष्ट होते रहने की सलाह देता है और साधक को गुरु-समर्पण के दौरान उसके द्वारा असीम शान्ति एवं दिव्य आनन्द के स्वानुभव की स्मृति दिलाते हुये तथा इस प्रसंग में अन्य संतो, महात्माओं के अनुभवों की कथा सुनाकर तथा, प्रभु-भजन द्वारा आत्मा की सर्वव्यापकता का भान कराते हुये साधक को योग्य ढाढ़स और मार्ग-दर्शन प्रदान करता है। गुरु एक क्षण के लिये भी साधक को यह महसूस नहीं करने देता कि वह एकाकी अथवा गुरु-विहीन है, यद्यपि साधक को जीवन के सभी सुखद, दुखद अनुभव स्वयं को ही स्वीकार करने पड़ते हैं। गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण की घड़ी में

साधक को एक ओर असीम शान्ति और दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है किन्तु दूसरी ओर इसी दौरान उसको अहम्-ग्रस्त क्लेशों की जलन के दारुण दुख को भी स्वीकार करना पड़ता है।

युंगीय विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत अवचेतन स्तरीय 'एनीमा' तथा 'एनीमुस' की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अवचेतन स्तरीय उपरक्त प्रतिच्छायाओं के फलस्वरूप व्यक्ति को समाज तथा अन्य लोगों के साथ सम्यक् सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई महसूस होती है, इसलिये इन प्रतिच्छायाओं के सही स्वरूप तथा इनके साथ अहम् के सम्बन्ध को समझा जाना जरूरी है। ऐनीमा और ऐनीमुस के स्वरूप तथा सम्बन्ध के ज्ञान से न केवल बाह्य जगत के सम्बन्धों में सुधार होता है अपितु, इसकी जानकारी से अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु को भी जानने में बड़ी मदद मिलती है, क्योंकि इन प्रतिछायाओं के स्वरूप की जानकारी ही अन्ततोगत्वा अन्तःप्रज्ञा की समझ (Intuitive understanding) का रूप ग्रहण कर लेती है, और व्यक्ति अपनी ही अंतःप्रज्ञा अथवा अन्तःप्रेरणा के द्वारा स्वयं के अवचेतन स्तरीय जगत को तथा उसके क्रियकलापों को अधिक सुस्पष्टता एवं गहराई के साथ समझने का अवसर प्राप्त करता है[1]।

एनीमा तथा ऐनीमुस के स्वरूप तथा इनकी अहम् के साथ सम्बन्ध विषयक जानकारी से कभी कभी भयावह स्थिति उत्पन्न हो सकती है, इसलिये इस स्तर पर सावधानी रखा जाना अपेक्षित है। प्रायः यह देखा गया है कि जब व्यक्ति किसी प्रगाढ़ रागात्मक सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है, तब वह ऐसा समझने लगता है कि मानो उसने कुछ प्राप्त कर लिया है अथवा उसमें ज्ञान का बोध हो गया है, और इस प्रकार की धारणा से उसको रागात्मक सम्बन्धों की मुक्ति का नशा सा होने लगता है। यह सब करतूत व्यक्ति के अहम् की है, जिसके परिणाम स्वरूप वह यह भ्रान्त धारणा कर बैठता है कि उसने शक्ति प्राप्त करली है और उसने इसका उपयोग स्वीकारात्मक अथवा

---

१. युंगीय विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत अब एनीमा (नर के अवचेतनस्तरीय नारी की प्रतिच्छाया) को अनजाने खजाने का प्रहरी अथवा अर्द्ध देवता तथा अर्द्ध पशु की इकाई नहीं माना जाता और इसको 'प्रियतमा' 'आत्मा' कहा जाना भी उचित नहीं है ? एनीमा को अब केवल मनोवैज्ञानिक क्रिया की तरह स्वीकार किया जाता है जिसकी प्रकृति सहज अन्तःप्रज्ञात्मक मानी गई है और इसलिये ऐनीमा को आदिम जातियों की वाक्यावली में चर्चित 'भूत लग जाना' अथवा छाया ग्रस्त होने के समकक्ष समझा जा सकता है।

1 Jung : Two Essays on Anatytical Psychology पृष्ठ २२५

निषेधात्मक कार्यों में कर लिया है, किन्तु इस प्रकार की धारणा केवल भ्रम है क्योंकि शक्ति का कोई सम्बन्ध अहम् अथवा एनीमा व एनीमुस से नहीं है, अपितु शक्ति का केन्द्र शिव-शक्ति तत्व अथवा आत्मा है। जब कभी व्यक्तित्व अहम्-ग्रसित हो जाता है तब सभी क्रम गड़बड़ा जाते हैं। इस प्रकार की भयावह स्थिति का उदाहरण गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में भी लक्षित किया जा सकता है। अहम् से ग्रसित गुरु शक्ति के प्रक्षेपण के फलस्वरूप गुरुडम के ढकोसले में पड़ कर 'इतनी लम्बी मेरी शिष्य परम्परा है' आदि के मायाजाल में उलझ जाता है, तथा शिष्य 'मैं फलाँका शिष्य हूँ' आदि के वृथा अहंकार में ही अपने जीवन-विकास की इतिश्री समझने लगता है। अहम्ग्रस्त गुरुओं तथा मिथ्याभिमानी चेलों के अनेक उदाहरण समाज में पाये जाते हैं। इन परिस्थितियों में यदा-कदा पुरुष साधक को अवचेतनस्तर से सर्वज्ञ. समर्थ, पूर्णज्ञानी सनातन ज्ञान पुरुष' (The wise old man) तथा महिला साधक को सर्वशक्तिमान, ममतामयी 'महान माता' (The Great mother) जिसको भारतीय परम्परा में क्रमशः 'शिव' और "शक्ति" कहा जा सकता है) की प्रतिमाओं के दर्शन होने का आभास होने लगता है, किन्तु मोक्षार्थी साधक को इस प्रकार के अवचेतन स्तरीय प्रकोपों से अलिप्त रहकर आत्मदर्शन की साधना में निरन्तर लगे रहना चाहिये, क्योंकि आत्मवस्तु का दर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार के द्वारा मुक्ति प्राप्त करना ही उनकी साधना का अन्तिम लक्ष्य है। जब तक साधक अपनी आत्म-स्थिति में दृढ़ नहीं हो जाता तब तक साधक के समक्ष शिव एवं शक्ति की उभरती हुई प्रतिमाओं के आभास में रुके रहने का खतरा बना रहता है, इसलिये युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत साधनापथ में इस प्रकार से उपस्थित होने वाले मायावी पड़ावों से बचने के लिये सचेत किया गया है। शिव-शक्ति की प्रतिमाओं के दर्शन का यह दिव्य आभास अहम्-ग्रस्त अवचेतन चित्त की मोहक करतूत है, अतः सभी रहस्यवादी आध्यात्मिक मार्गों में आत्म-दर्शन के लिये अहम् के सम्पूर्ण मूलोच्छेदन का आग्रह पाया जाता है। साधना-पथ के प्रारम्भिक चरण में निःसन्देह अहम्-युक्त विवेक के माध्यम से साधक सद्-असद् का भेद करते हुये तथा असत् को अस्वीकार करते हुये साधना-पथ पर अग्रसर होता है किन्तु साधना-पथ के अन्तिम चरण में आत्मदर्शन तथा मुक्ति की उपलब्धि के लिये सम्पूर्ण अहम् का परित्याग किया जाना जरूरी माना गया है ? सभी साधनामार्गों में अहम् के सम्पूर्ण समर्पण को आत्मदर्शन की स्थिति तक पहुँचाने के लिये एक अनिवार्य शर्त माना गया है , अर्थात जब तक साधक अहम् से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता तब तक उसके लिये आत्मदर्शन तथा आत्मसाक्षात्कार का अनुभव किया जाना संभव ही नहीं है। इसलिये भारतीय ऋषियों ने सच कहा है की ज्ञान की चरम परिणिति भक्ति (प्रेम) में है जहाँ पर साधक और साध्य का भेद तथा भक्त और भगवान के बीच का द्वैत भाव ही नष्ट हो जाता है, और सर्वत्र अभेद अथवा अद्वैत की स्थिति हो जाती है, जिसको अखण्ड 'आत्मस्थिति' कहा जा सकता है।

युंगीय मनोविश्लेषण प्रक्रम में सुस्पष्ट किया गया है कि जब साधक सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान आदि लक्षणों से युक्त प्रतिमाओं के प्रकोप से अप्रभावित रहते हुये अपने आप को उक्त प्रकार से चित्तीय स्तर से उभरते हुये मानसिक-व्यक्तित्व के तादात्म्य से मुक्त करने के लिये संघर्ष करता है, तब उसको सहज ही उसका सही केन्द्र प्राप्त हो जाता है, जिसको 'आत्मस्थिति' कहा गया है।

युंग ने यह भी सुस्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि सर्वव्यापकता की शक्ति अहम् अथवा चित्तीय-जनित नहीं है, अपितु चेतन तथा अवचेतन की इकाई और पूर्णत्व को ही व्यक्तित्व का सही केन्द्र (आत्मा) माना जाना योग्य है [1]। व्यक्तित्व-विकास की अन्तिम मंजिल भेद-रहित अद्वैतावस्था है जिसको आत्मदर्शन अथवा आत्म-सक्षात्कार की स्थिति कहा जा सकता है।

युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत अन्यारोपण परिस्थिति (Transference situation) की तुलना भारतीय गुरु-शिष्य के प्रगाढ़ रागात्मक सम्बन्ध से की जा सकती है। जिस प्रकार भारतीय गुरु-शिष्य प्रक्रम में सामान्यतः परस्पर स्नेहपूर्ण व्यवहार का आदान-प्रदान तथा कभी-कभी इनके बीच कष्ट पूर्ण परिस्थितियों का अनुभव होता है, उसी प्रकार युंगीय प्रक्रम में विश्लेषक एवं रोगी व्यक्ति के बीच विवेकपूर्ण सुखद व्यवहार तथा यदाकदा प्रसंगवशात दुखदायी घटनाओं की आवृत्तियाँ होना पाया जाता है। सामान्यतः भारतीय गुरु-शिष्य के बीच प्रेम तथा स्नेहासिक्त व्यवहार रहता है, और गुरु-सानिध्य की कृपा से शिष्य के जीवन में उल्लेखनीय विकास एवं परिवर्तन हो जाता है। भारतीय दृष्टि में गुरु को साक्षात् परमेश्वर माना गया है किन्तु युंगीय मनोविज्ञान में विश्लेषक को केवल चिकित्सक का ऊँचा दर्जा ही दिया गया है। युंगीय प्रक्रम के अन्तर्गत विश्लेषक ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिसके परिणाम स्वरूप साधक के व्यक्तित्व में उल्लेखनीय सुधार हो जाता है। भारतीय चिन्तन के अन्तर्गत साधक द्वारा जीवन के चरम लक्ष्य (मुक्ति) की उपलब्धि के लिए 'गुरु-कृपा' को ही सर्वोच्च महत्व दिया गया है जबकि युंगीय प्रक्रम के अन्तर्गत पाश्चात्य सामाजिक व्यवस्था के कारण इस प्रकार की मान्यता को स्वीकार किये जाने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। निःसन्देह गुरु के प्रति अन्ध श्रद्धा के परिणाम स्वरूप कतिपय खतरे भी

---

1. इन परिस्थितियों में चेतन तथा अवचेतन दोनों के संयोग को अथवा इन दोनों के अभाव को 'मन' कहा जा सकता है। मन ही परस्पर विरोधी सत्वों की कड़ी तथा इनके बीच होने वाले संघर्षों का परिणाम है, जिसके फलस्वरूप व्यक्तित्व का आविर्भाव तथा आगे जाकर इसका विकास होता है।

Jung : Two Essaye on Anatytical Psychology p. p. 228

उपस्थित हो सकते हैं। जिनसे बचने के लिए सावधानी रखी जानी चाहिये। यदि गुरु शिष्य पर अथवा शिष्य गुरु पर प्रक्षेपण (Prolectron) कर बैठे तब उस स्थिति में गंभीर अवरोधक तथा घातक परिस्थिति का निर्माण हो जायगा, जिसके परिणाम स्वरूप न केवल व्यक्तित्व-विकास का क्रम ही रुक जाता है, अपितु समग्र साधना-पथ भी चौपट हो सकता है। इसी प्रकार गुरु के अहम्-ग्रस्त हो जाने की स्थिति में वह स्वयं को सर्वशक्तिमान भगवान मान लेने की भूल कर सकता है, तथा शिष्य मिथ्या अभिमान में पड़कर 'मैं फलाँ का शिष्य हूँ' आदि मानकर अपने अहम् का शिकार हो सकता है, तथा इस प्रकार साधक व्यक्तित्व-विकास के लिये निर्धारित साधना-मार्ग से दूर भटक जायगा।

भारतीय चिन्तन परम्परा में गुरु-सानिध्य तथा शिष्य द्वारा गुरु के प्रति आत्म-समर्पण की भावना को अधिक महत्व दिया गया है। गुरु अपने निकटस्थ सानिध्य के द्वारा अपनी हस्ती को एक तरफ रखकर शिष्य को सत्य के प्रति (जो अनामी तथा असंग है) समर्पण कराता है। अहम् का त्याग अथवा अहम् का समर्पण किया जाना अपने शरीर के किसी अंग को अलग किए जाने के समान अत्यन्त कठोर तथा दुःखपूर्ण अनुभव है, जिसको केवल गुरु'कृपा की स्नेहमयी छाया में ही साधक सहन कर सकता है। अहम् व्यक्तित्व का अब तक प्रमुख अंग रहा है अतः उसके सर्वथा उन्मूलन के दौरान व्यक्तित्व के टूटने से साधक को तीव्रतम दुःख तथा पीड़ा का अनुभव होता है, किन्तु ऐसे प्रसंग पर दयासागर गुरु के जागरूक मार्गदर्शन के परिणाम स्वरूप साधक साधनारत रहते हुए अपने सभी बाह्य: बन्धनों एवं अहम् से मुक्त होकर स्वयं के केन्द्र बिन्दु (आत्मा) की खोज में सफल होकर अपनी आत्मस्थिति में दृढ़ीभूत हो जाता है जिसको आत्मदर्शन या आत्म-साक्षात्कार की स्थिति अथवा मुक्ति-अवस्था कहा जाता है। करुणा-सागर अहम्-मुक्त गुरु के निष्काम प्रेममय वातावरण के फलस्वरूप ही साधक अपने अहम्नाश की पीड़ा को बर्दाश्त कर पाता है, और वह सर्वस्व-समर्पण भावना के कारण ही आत्मस्थिति तक पहुँच पाता है। जब तक साधक बाह्य वस्तुओं से चिपका रहता है, तथा अहम् भाव से ग्रस्त रहता है, तथा जब तक वह स्वयं को विशिष्ट व्यक्ति तथा गुरु को अन्य व्यक्ति समझने की उलझन में फँसा रहता है तब तक उसके लिए गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण भावना का कोई अर्थ ही नहीं रहता। पूर्ण समर्पण के लिए गुरु तथा शिष्य दोनों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म देह-बुद्धि भावना से ऊपर उठना जरूरी है, अर्थात् जब शिष्य की देह-बुद्धि भावना का पूर्ण नाश हो जाता है और जब वह गुरु को भी देह-बुद्धि की दृष्टि से नहीं देखकर केवल विशुद्ध अद्वैत आत्म-वस्तु की तरह उसको सर्वत्र देखने का अनुभव करता है तब ही वह गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित

होना माना जाएगा। ऐसी स्थिति में उसको गुरु सर्वत्र व्याप्त प्रतीत होगा, जिसको उपनिषदों में "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" का अनुभव कहा गया है। इसके विपरीत यदि साधक अपने अहम् को पकड़े हुए रहता है तथा वह बाह्य जगत के बन्धनों से जकड़ा हुआ है अथवा वह अपने आप को गुरु से भिन्न समझता है तब वह गुरु के प्रति समर्पण भाव को स्थिर नहीं रख पा सकता है और ऐसी स्थिति में वह आत्मदर्शन के लिए अयोग्य साबित हो जाता है। इसी प्रकार यदि शिष्य अपनी अयोग्यता अथवा कमजोरियों का गुरु के प्रति प्रक्षेपण करता है अथवा वह गुरु के प्रति अन्ध श्रद्धा में आबद्ध हो जाता है तो वह देह-बुद्धि भाव से ऊपर उठ कर आत्मस्वतंत्रता का अनुभव ही नहीं कर सकता और इस प्रकार वह गुरु पर केवल मात्र भार स्वरूप बना रह जाता है। उपरोक्त प्रकार की परिस्थितियों में समर्थ जागरूक गुरु निष्काम प्रेमभावना से शिष्य के अहम् बन्धन पर चोट पहुँचा कर उससे उसका सामना कराता है ताकि उसके व्यक्तित्व को एक झटका सा लगे तथा उसके अहम् के समूचे उच्छेदन के साथ-साथ उसका देह-बुद्धि भाव ही नष्ट हो जाय। इस प्रकार साधक के अहम् के समूल उच्छेदन से गुरु के प्रति किया जाने वाला प्रक्षेपण भी समाप्त हो जाएगा, तथा उसे सर्वत्र व्यापक आत्मदृष्टि की उपलब्धि हो सकेगी।

गुरु, जिसने शिष्य को अहम् तथा बाह्य जगत के समस्त बन्धनों से छुटकारा दिला कर मुक्ति मार्ग पर खड़ा कर दिया है, वह किस प्रकार शिष्य को अपने अधीन बाँध रखेगा? निसन्देह गुरु का व्यक्तित्व महान होता है और वह शिष्य से समर्पण-भावना की अपेक्षा कर सकता है। वह श्रीकृष्ण की तरह अपने शिष्य से यह माँग कर सकता है कि वह उसमें अचल मन से श्रद्धा-भक्ति रखे तथा मन, वाणी और शरीर द्वारा उसको सर्वस्व अर्पण करे।[1] किन्तु समर्थ अहमशून्य गुरु को सदैव यह भान रहता है कि वह शिष्य से क्या माँग कर रहा है। श्रीमद्भागवद्गीता में भगवान के पूछने पर अर्जुन कहता है कि अच्युत आप की कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है इसलिये मैं संशय-रहित होकर स्थित हूँ, अतः अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।[2] अतः जब शिष्य संशय-रहित हो जाता है तथा गुरु की आज्ञा को खुले दिल से पालन करने का निश्चय करता है तभी गुरु निष्काम प्रेम भाव से शिष्य को गोपनीय ज्ञान से परिचित कराता है तथा उसके गूढतम रहस्य

1. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। गीता ९।३४

2. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वतप्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।। गीता 18/73

को सम्पूर्णता के साथ अच्छी तरह विचार कर जैसी शिष्य की इच्छा हो उसी प्रकार करने की अनुज्ञा प्रदान करता है।[1] इस प्रकार गुरु-शिष्य के प्रगाढ़ सानिध्य से गुरु और शिष्य की इच्छाएँ एक हो जाती हैं और इनके बीच का भेद समाप्त होकर गुरु शिष्य का द्वैतभाव आत्मभाव के अद्वैत में बदल जाता है।

भारतीय चिन्तन परम्परा के अन्तर्गत प्रेम तथा निःस्वार्थ भक्ति को उच्चतम महत्व दिया गया है। भारतीय मान्यतानुसार प्रेम तथा भक्ति का जादुई प्रभाव होता है। यदि कोई व्यक्ति गुरु, भाई अथवा अपने पति के प्रति निःस्वार्थ अनन्य प्रेम अथवा पूर्ण निष्ठा भाव रखता है तो उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो जाता है और साधक भक्ति की निस्वार्थ भक्ति भावना से पत्थर की मूर्ति भी साक्षात् भगवान बन सकती है, और साधक अपने मानवीय व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करके भगवान के साथ साक्षात्कार कर सकता है। यहाँ पर वस्तु अथवा व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है अपितु महत्व है साधक की पूर्ण निष्ठा तथा अनन्य प्रेम-भावना का। प्यार करने वाले प्रेमी के हृदय का महत्व प्रेम के विषय से अधिक है। निष्ठायुक्त प्रेम और अनन्य श्रद्धा से साधक को सर्वत्र व्याप्त सत्य का सहज दर्शन होता है, क्योंकि अनन्य प्रेम ही सर्व व्यापक सच्चाई (आत्मा) में बदल जाता है।

गुरु-शिष्य सानिध्य से होने वाले खतरों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। किन्तु-इस प्रकार की भ्रान्त धारणा को स्वीकार किया जाना उचित नहीं है। युंगीय मनोविज्ञान का विकास किसी रहस्यवादी अथवा आध्यात्मिक परम्परा के आधार पर नहीं हुआ है तथा युंगीय पद्धति के अन्तर्गत विश्लेषक को गुरु का उच्चतम पद नहीं दिया गया है अपितु उसको केवल मात्र वैज्ञानिक चिकित्सक की तरह ही स्वीकार किया गया है। भारतीय गुरु अथवा संत को सामान्य व्यक्ति की तरह अपनी दिन-प्रति-दिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज पर आश्रित नहीं रहना पड़ता, जबकि युंगीय विश्लेषक तत्कालीन तथा स्थानीय समाज पर आधारित सामान्य व्यक्ति ही है, इसलिये भारतीय परम्परा में गुरु को सामान्यतः समाज पर आश्रित विश्लेषक की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाना योग्य एवं स्वाभाविक ही है, क्योंकि युंगीय मनोविज्ञान का एक आध्यात्मिक मार्ग की तरह अब तक पूर्ण विकास नहीं हुआ है। भारतीय गुरु समाज तथा वर्णव्यवस्था से परे सामान्य गृहस्थ की तरह सामाजिक व्यक्तित्व नहीं है, इसलिये भारतीय गुरु को उच्चतम महत्व दिया जाना उचित ही है।

---

1. इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ गीता 18|63

युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत सिद्धान्तः यह मान लिया गया है कि 'एनीमा' अथवा 'एनीमुस' की शक्ति का यदि अहम् के द्वारा उपयोग नहीं होता अथवा इस शक्ति के अन्यत्र प्रक्षेपण की संभावना नहीं रहती तो उन परिस्थितियों में उक्त शक्ति का प्रवाह आत्मा के नये उभरते हुये केन्द्र पर ठहर जायगा। युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत आत्मानुभूति द्वारा ही साधक अपने सही स्वरूप को जान सकता है। यह अनुभव धार्मिक अथवा रहस्यानुभूति के सादृश्य (समान) है। युंगीय मनोविज्ञान अनुभवाश्रित विज्ञान है अतः इसके अन्तर्गत केवल मानवीय अनुभवगम्य तथ्यों अथवा धारणाओं की व्याख्या प्रस्तुत की गई है; किन्तु इसके अन्तर्गत अनुभव से परे उसके मूल केन्द्र अथवा साधना के अन्तिम लक्ष्यनिर्धारण के बाबत अन्य तात्विक प्रश्नों के सम्बन्ध में मौन ही रखा गया है क्योंकि किसी भी प्रश्न का तात्विक विवेचन प्रस्तुत किया जाना मनोविज्ञान के क्षेत्र से परे की विषय-वस्तु है। इसलिये युंगीय पद्धति के अन्तर्गत आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक घोषणा नहीं की गयी है, और न कहीं यह कहा गया है कि आत्मा का स्वरूप ईश्वर है, अथवा सत्य है, अथवा आत्मा ही परम सत्ता है, क्योंकि ईश्वर, सत्य, तथा परम सत्ता का तात्विक विवेचन मनोविज्ञान के सीमित निर्धारित क्षेत्र में नहीं किया जा सकता। युंगीय मनोविश्लेषण में केवल मात्र मानवीय अनुभव की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न पाया जाता है, अतः अनुभव की तात्विक विवेचना की झंझट से परे रह कर युंगीय मनोविज्ञान में केवल यही सूचित किया गया है कि आत्मानुभूति साधक का एक निजी अनुभव है जो उसकी साधना का प्रतिफल है अथवा लक्ष्य है तथा जो उसका सही तत्व है[1]। किन्तु उसको ईश्वर, अन्तिम सत्ता अथवा सत्य आदि निरपेक्ष वाक्यावली में घोषित किया जाना मनोवैज्ञानिक सीमा का अतिक्रमण ही कहा जायगा। अतः आत्मानुभव के तात्विक विवेचन के प्रश्न पर यहाँ कोई विचार नहीं किया गया है, क्योंकि इस अनुभव के स्वरूप के बाबत जो कुछ भी कहा जायगा उसको अहम् द्वारा प्रस्तुत व्याख्या ही कहा जायगा, इसलिये इस बाबत मौन रखा जाना ही उचित है[2]। युंगीय मनोविज्ञान में आत्मा को आकृति मूर्ति या प्रतिमा माना गया है, जिसका मूल सचमुच जानने से परे- अर्थात अगम्य है। यदि युंग को इस बाबत अधिक स्पष्ट करने के लिए आग्रह किया जायगा तो वह उसको विनय पूर्वक 'वह मेरे अन्तरतम का भगवान है' कह कर चुप हो जायेगें।

उपरोक्त प्रकार के कथन को पूर्वीय दृष्टिकोण के अनुसार 'संशयात्मक धारणा' कहा जा सकता है। इस प्रकार के कथन का यह अर्थ निकाला जायगा कि या तो साधक का स्वयं के सम्बन्ध में कोई अनुभव ही नहीं है अथवा उक्त अनुभव का दायरा

1 Jung : The Integration of Pessantity
2 Jung : Two Essays on Anatyticl Psychology

उसके समूचे व्यक्तित्व (भाषा-क्षमता) से परे है, इसलिये वह अपने अनुभव की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने में असमर्थ है। आत्मा के बाबत युंगीय विचारक का यह कहना कि 'वह नहीं जानता' ऐसा ही है जैसा कि प्रेम रस में रसा-बसा प्रेमी यह कहे कि 'वह प्रेमिका को नहीं जानता'। निःसन्देह युंगीय विचारक के उपयुक्त कथन की इस प्रकार व्याख्या किया जाना योग्य नहीं है, क्योंकि उसका कथन उसकी विनम्रता अथवा विवेक का द्योतक है, जिसके कारण वह आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में दृढ़ता पूर्वक घोषणा करने में संकोच करता है किन्तु भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार उपरोक्त प्रकार की विनम्रता को त्रुटि ही समझा जायगा, इस विषय बिन्दु पर आगे विचार किया जायगा। अतः यहाँ पर हमें युंगीय-विश्लेषण-प्रणाली तथा इस विधि के द्वारा व्यक्तित्व-विकास के लिये किये जाने वाले प्रयत्न पर विचार करना चाहिये। युंगीय मनोविश्लेषण-प्रक्रम के अन्तर्गत सर्वप्रथम साधक के चेतन स्तरीय व्यवहार तथा उसके व्यक्तित्व को समझने का प्रयास किया जाता है, इसके पश्चात् व्यक्ति के अवचेतन स्तरीय तथा जाग्रतावस्था के व्यवहार के कारणभूत अवचेतन की पृष्ठभूमि की खोज शुरू की जाती है और इस प्रकार कार्य-कारण के सम्बन्धों को समझते हुये चित्त के दोनों सम्भागों (चेतन तथा अवचेतन) की इकाई को स्वीकार किया जाता हैं। युंगीय विश्लेषण के अन्तर्गत जाग्रतावस्था अथवा चेतन स्तरीय वस्तु की पूर्ण जानकारी के बाद उससे सम्बन्धित अवचेतन स्तरीय वस्तु के स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया जाता है, तथा चित्त की इकाई के इन दोनों सम्भागों (चेतन तथा अवचेतन) के अध्ययन से यह पाया गया है कि सम्पूर्ण चित्तीय क्रियाकलापों की गति द्वन्द्वात्मक है- अर्थात जीवन अथवा समस्या का एक पहलू चेतन या जाग्रतावस्था है तथा इसका दूसरा छोर अवचेतन अथवा आज्ञातावस्था है, और इन दो परस्पर विरोधी ध्रुवों में प्रतिपूर्ति के सिद्धान्त (Law of Compensatin) के अधीन जीवन का सामञ्जस्य बना रहता है। मानव के प्रत्येक जाग्रत अथवा चेतन व्यवहार की जड़ें अवचेतन स्तर पर रहती हैं, तथा अवचेतन स्तरीय चित्त के होने वाले प्रत्येक व्यवहार का कुछ न कुछ सम्बन्ध जाग्रत अथवा चेतन स्तर पर भी अनुभव किया जा सकता है। जैसे स्वप्न अवचेतन चित्त की करामात है किन्तु उसका अनुभव जाग्रतावस्था में स्मृति के रूप में निरन्तर बना रह सकता है। इसलिये युंगीय विश्लेषण के अन्तर्गत व्यक्ति की समस्या को उसके चेतन तथा अवचेतन स्तरीय व्यवहारों के अध्ययन से ही समझे जाने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि समस्या का पूरा रूप समझा जा सके, तथा समस्या की सही तथा पूर्ण जानकारी से ही उसके हल पर पहुँचा जा सके।

समस्या की सम्यक एवं पूर्ण जानकारी के लिये स्वप्नादि अवचेतन स्तरीय व्यवहार का विश्लेषण तथा अवचेतन स्तरीय उभरते हुये प्रतीकों की व्याख्या पुराण विद्या के

अध्ययन के आधार पर किया जाना युंग ने उपयोगी माना है। इसके अलावा युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत सक्रिय कल्पना (Active Imagination) प्रक्रिया को अपनाने का परामर्श दिया गया है ताकि अवचेतन की गहनतम स्तरीय अर्न्तवस्तु को चेतन स्तर पर अनुभव किये जाने का प्रयास किया जा सके। सक्रिय कल्पना पद्धति के अन्तर्गत गहन अवचेतन स्तर से उभरते हुये प्रतीकों-प्रतिमाओं के अर्थ को समझने के लिये युंग ने पुराण विद्या तथा आदिम मानवों में पाये जाने वाले धार्मिक एवं सामाजिक रीति-रिवाजों के अध्ययन से बड़ी मदद ली है। युंग की मान्यतानुसार स्वप्नविश्लेषण सम्बन्धी फ्रायड की प्रणाली अपूर्ण तथा भ्रामक सिद्ध होती है। क्योंकि फ्रायड ने अवचेतन को केवल व्यक्तिगत अवचेतन स्तर तक ही स्वीकार किया है, जब कि युंग ने प्राचीनतम विश्व धर्मों के इतिहास का तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर व्यक्तिगत अवचेतन की गहराई में 'सामूहिक अवचेतन' की समष्टि स्थिति को प्रमाणित किया है और इस सामूहिक अवचेतन को व्यक्तित्व का मूलाधार माना है। निःसन्देह व्यक्ति के चेतन का आधार व्यक्तिगत अवचेतन हो सकता है किन्तु कभी कभी व्यक्ति को अवचेतन स्तर से उभरती हुई ऐसी आकृतियों, प्रतीकों का भी अनुभव हो जाता है, जिनका सही सम्बन्ध आदिमकालीन मानवीय चित्त से पाया जाता है, अतः अवचेतन से उभरते हुये इन प्रतीकों की व्याख्या आदिम कालीन शब्दावली से ही किया जाना उचित है। युंगीय विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत यह भी खोज की गई है कि अवचेतन के गहनतम स्तर से उभरते हुये क्रिया-कलापों, घटनाओं एवं प्रतीकों की आवृत्तियाँ आदिम-मानव के धार्मिक रीति-रिवाजों में पाई जाने वाली घटनाओं के समान पायी जाती हैं, और इन समानार्थी प्रतीकों एवं आकृतियों का व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में बड़ा प्रभाव पाया गया है। युंगीय मनोविज्ञान में अवचेतन के गहनतम स्तर पर पाई जाने वाली इस अन्तर्वस्तु को मूल प्रारूपिक (ArchetyPes) की संज्ञा से सुस्पष्ट किये जाने का प्रयत्न किया गया है। इन मूल प्रारूपिक आकृतियों या प्रतीकों को चित्तीय शक्ति का मूल केन्द्र कहा जा सकता है। किन्तु इनका सही स्वरूप निर्धारित किया जाना कठिन है, क्योंकि वस्तुतः चित्तयी शक्ति के उक्त केन्द्र अगम्य हैं, किन्तु इनका उपयोग अवचेतन स्तरीय मानसिक क्रिया-कलापों में निःसन्देह पाया जाता है। इसलिये इन प्रतीकों के अर्थ की व्याख्या पुराण विद्या तथा आदिम कालीन धर्मों के तुलानात्मक अध्ययन से किया जाना उपयोगी हो सकता है। युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत किये गये अनुसन्धानों से यह पाया गया है कि कतिपय मूल प्रारूपिक प्रतिमात्मक घटनाओं की आवृत्तियाँ आदिम मानवीय घटनाओं के समान लक्षित की गई हैं, अतः इन प्रतीकों का अर्थ आदि मानव-मनोविज्ञान की सहायता से किया जाना सर्वथा उचित है। अब तक

विश्लेषणात्मक अनुभव के आधार पर कतिपय बार-बार घटित होने वाले प्रतीकों एवं आकृतियों का भेद तथा अर्थ समझा जा चुका है, अतः युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत भविष्य में सम्पादित किये जाने वाले वैज्ञानिक अनुसन्धान से अवचेतन स्तरीय तथ्यों की विशेष जानकारी प्राप्त किये जाने की संभावना है ।

युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत सिद्धान्तः अवचेतन के भी दो हिस्से माने गये हैं । अवचेतन के ऊपरी हिस्सों को "व्यक्तिगत अवचेतन" (Porsanal unconscious) कहा गया है । इस भाग का सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन में घटित क्रियाओं की व्याख्या से है । दूसरे अवचेतन के गहनतम धरातल को युंग ने "समष्टि अवचेतन" (Collective unconscious) की संज्ञा से स्पष्ट किया है, जिसके अन्तर्गत परम्परागत समष्टि, जाति, मानवसमूह, आदि के अनुभव-गम्य घटनाओं, प्रतीकों आकृतियों के आधार पर अवचेतन की अन्तर्वस्तु को समझने का प्रयास किया जाता है । 'व्यक्तिगत अवचेतन' के संकेत से व्यक्ति प्रायः अपने समक्ष उपस्थित होने वाली समस्या का हल निकाल पाता है। इस प्रक्रिया के दौरान व्यक्ति या तो अपनी सहज प्रवृत्ति (Instinct) का अनुसरण करता है अथवा उससे विमुख रहने का प्रयत्न करता है । युंगीय पद्धति के अनुसार सामान्यतः व्यक्ति का प्रारंभिक जीवन-काल सहज प्रवृत्ति-प्रधान रहता है, ताकि व्यक्ति अपने जीवन में उपस्थित होने वाली समस्याओं की ओर प्रवृत्त होकर उनका योग्य समाधान निकाल सके और इस प्रकार की समझ के माध्यम से अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके ।

युंगीय पद्धति के अन्तर्गत सामान्यतः व्यक्ति का प्रारम्भिक जीवन बहिर्मुखी होना चाहिये ताकि व्यक्ति अपनी सहज प्रवृत्तियों का अनुसरण करते हुये बाह्य जगत की स्थितियों एवं तथ्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुये उनका अनुभव कर सके, इसलिये युंगीय विश्लेषण के अनुसार व्यक्ति को प्रारम्भिक जीवनकाल में प्रवृत्ति मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित किया गया है, किन्तु व्यक्ति को उसके उत्तरकालीन जीवन में अपनी सहज वृत्तियों का संकोच करते हुये बाह्यः वस्तुओं की अपेक्षा आन्तरिक वृत्तियों पर अधिक ध्यान केन्द्रित किये जाने के लिये युंग ने संकेत दिया है— जिसको निवृत्ति मार्ग कहा जा सकता है । इस प्रकार युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत पूर्वकालीन जीवन में प्रवृत्तिमार्ग तथा बादके उत्तरकालीन जीवन में निवृत्ति मार्ग के अवलम्बन द्वारा समग्र जीवन-विकास अथवा व्यक्तित्व के पूर्णत्व को अनुभव करने का आग्रह किया गया है ताकि व्यक्ति चित्त के चेतन तथा अवचेतन दोनों सम्भागों की ईकाई एवं नैतिकता का अनुभव कर सके । जिस प्रकार सूर्य की रश्मि का एक सिरा बैंजनी (Violet) रंगी है तथा दूसरा सिरा विरोधी लाल (Red) है

फिर भी यह दोनों रंग मूलतः एक ही सूर्य की श्वेत रंगी किरण के ही दो हिस्से मात्र हैं, उसी प्रकार एक ही चित्त के दो परस्पर ध्रुवों को चेतन तथा अवचेतन समभाग समझा जाना चाहिये। मानव जीवन की तस्वीर (ऐक्ट्रम) का एक छोर सहज प्रवृत्ति (**Instinct**) है, तथा उसी का दूसरा सिरा आत्मा (Spirit) है और इन दोनों परस्पर विरोधी ध्रुवों का सम्मिलिन ही व्यक्ति का जीवन चित्र क्रम है।[1] इसी प्रकार जड़ और चेतन, देह और आत्मा के द्वन्द्व को सूर्य के श्वेत रश्मि के बैंजनी तथा लाल दो रंगी विरोधी ध्रुवों की तरह समझा जाना चाहिये, किन्तु द्वन्द्वों (ध्रुवों) के बीच मूलतः कोई भेद नहीं है। अर्थात् उपरोक्त द्वन्द्वों से यदि एक ध्रुव को प्राप्त कर लिया जाय तो उसका दूसरा छोर भी स्वतः प्राप्त हो सकता है।

मानव जीवन में सहजवृत्ति तथा आत्मा के बीच चित्तीय शक्ति का स्वतः प्रवाह बना रहता है अतः इनकी अर्न्तवस्तु की निरन्तर अदला-बदली होती रहती है। इसलिये युंग ने समय समय पर बराबर चेतावनी दी है कि मानव जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति तथा व्यक्तित्व का पूर्ण विकास न तो केवल प्रवृत्ति मार्ग से हो सकती है और न केवल निवृत्ति मार्ग से संभव है। अतः जीवन में केवल भोग अथवा केवल त्याग को अधिक महत्व दिया जाना योग्य नहीं है, अपितु सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास के लिये भोग तथा योग (त्याग) दोनों का परिस्थिति के अनुसार खुले मन से अनुभव किया जाना जरूरी है। अतः साधक को प्रवृत्ति तथा निवृत्ति-मार्ग के अतिरेक से बचते हुये "मध्यम मार्ग" का अनुसरण करना चाहिये, ताकि वह इन दोनों के परस्पर विरोधी ध्रुवों के खिचावों के बीच जीवन का सन्तुलन रखते हुये तथा चेतन एवं अवचेतन की इकाई का योग्य प्रकार से अर्थ समझ सके। युंगीय विश्लेषण प्रक्रम के अन्तर्गत व्यक्ति अथवा साधक को प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग के क्रमशः भोग तथा योग (त्याग) के दोनों पहलुओं का अनुभव कराया जाता है, ताकि वह घटनाग्रस्त परिस्थितियों की सम्यक्

---

1. सूर्य रश्मि के विश्लेषण (Spectrum analysis) से सूर्य की श्वेत किरण। १ जामुनी २ नीली ३ आसमानी ४ हरी ५ पीली ६ केसरिया तथा ७ लाल रंग आदि सात रंगों मे बटी हुई होने के बावजूद भी उसको एक ही सूर्य की किरण माना जाता है, जिसका एक सिरा जामुनी तथा दूसरा सिरा लाल है इसी तरह मानवीय जीवन के एक छोर पर 'सहज प्रवृत्ति' तथा दूसरे छोर पर आत्मा की स्थिति है। किन्तु अलग-अलग दिखने वाले ध्रुवों के बावजूद भी इनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, इसी प्रकार मानवीय जीवन में सहज प्रवृत्ति तथा आत्मा के बीच इकाई तथा अभेद है।

   Jung : Spirit of Psychology पेज ४२१-२२

समझ से द्वन्द्वातीत चित्त की ईकाई की खोज में सफल हो सके। युंग ने विश्लेषण के इस प्रक्रम के अन्तर्गत साधक को अनुभवित तत्कालीन समस्या पर दृष्टि रखते हुये परस्पर विरोधी द्वन्द्वों के बीच के रास्ते (मध्यममार्ग) की प्रतीक्षा या खोज किये जाने की सलाह दी है। युंगीय पद्धति के अन्तर्गत किसी अन्तिम ध्येय की प्राप्ति अथवा निर्धारित सत्ता के बाबत किसी भी प्रकार की घोषणा किये जाने की प्रवृत्ति से बचाया गया है। युंगीय विश्लेषण के अन्तर्गत साधक को स्वयं बाह्य तथा अन्तर्जगत में घटित सभी घटनाओं को तटस्थ भाव से देखते रहने तथा इन घटनाओं से प्रसूत सभी सुखद तथा दुःखद थपेड़ों का अनुभव करते रहने की सलाह दी गई है ताकि साधक अपने आप बाह्य तथा आन्तरिक घटनाओं के झंझावातों का अनुभव करते हुये उनका अर्थ समझने में सक्षम हो सके। युंगीय मनोविश्लेषक साधक को किसी निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचने का कोई आग्रह नहीं करता, क्योंकि युंगीय विश्लेषक भारतीय गुरु नहीं है, अपितु वह केवल मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ है जो साधक को उसकी ही दृष्टि तथा अन्तः-प्रेरणा के आधार पर आगे बढ़ने के लिये आजादी देता है, चाहे उसको आत्म-साक्षात्कार हो अथवा नहीं हो। युंगीय विश्लेषण क्रमिक साधना-पथ है जिसमें साधक को स्वयं सीढ़ी दर सीढ़ी पर आगे बढ़ने के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है ताकि वह अपनी ही स्वेच्छा और मौज से आत्मपद-प्राप्ति की आवश्यकता का अनुभव कर सके।

इसी प्रसंग में पुनः यह स्मरण कराया जाना आवश्यक है कि युंगीय विश्लेषक की अभिवृत्ति समस्या-ग्रस्त व्यक्ति को जीवन-विकास के लिये जागरूक करना है ताकि वह अपनी समस्या का स्वतः हल ढूँढ़ते हुये अपने व्यक्तित्व को सुदृढ़ तथा समाजोपयोगी बना सके, अतः मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है, आदि आध्यात्मिक प्रश्नों को युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत उठाये जाने की न तो कोई गुंजाइश ही है और न इस प्रकार की कोई आवश्यकता ही महसूस की गई है। युंगीय प्रक्रम के अन्तर्गत व्यक्ति को उस समय उसके द्वारा अनुभव होने वाली कठिनाइयों से उबरने के लिये सावचेत किया जाता है, ताकि वह तत्कालीन अनुभूत समस्याओं एवं कठिनाइयों को योग्य प्रकार से अपने जीवन के विराट् एव यथार्थ परिपेक्ष्य में समझ सके, तथा इस समझ के फलस्वरूप अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुये जीवन-साधना के पथ पर आगे बढ़ सके। युंगीय विश्लेषक केवल मानस चिकित्सक के दायित्व को स्वीकार करता है, किन्तु वह कभी भी रोगी अथवा साधक का आध्यात्मिक गुरु बनने की चेष्टा नहीं करता। युंगीय पद्धति के अन्तर्गत सहज भाव से तथा कदम कदम पर समस्या तथा रोग के सही स्वरूप को जानकर उसका समाधान एवं उपचार किये जाने पर ही जोर दिया गया है तथा इस कार्य हेतु साधक अथवा रोगी को स्वतः निपटने के लिए विश्लेषक द्वारा प्रोत्साहित किया गया है।

युंगीय पद्धति के अन्तर्गत साधक की जब स्वप्नों के दौरान में मूल प्रारूपीय-(आर्कीटाइपल) सामग्री के बाहुल्य का अनुभव होता है तब उस स्थिति में युंगीय मनोविश्लेषक एक नये मार्ग का अवलम्बन करता है। जब साधक अपने अवचेतन को गहनतम सतह से स्पर्श करता है तब उसे भयावह पीड़ा एवं वेदना का अनुभव होता है और ऐसी विषम धड़ी में साधक को उक्त दुखद अनुभव के स्वरूप को समझने के बजाय उसको इस दुखद पोड़ा को अपने जीवन में उतार दिये जाने की सलाह दी गई है जो कि निःसन्देह अधिक महत्वपूर्ण तथा कल्याणकारी कार्य है[1]।

अतः ऐसे अवसर पर युगीय विश्लेषक अवचेतन स्तरीय सामग्री की व्याख्या के बजाय वह रोगी अथवा व्यथित व्यक्ति की ओर अधिक ध्यान देता है तथा वह रोगी एवं साधक के उक्त भीषण, भयावह एवं अंधकारपूर्ण स्थिति को ज्यों का त्यों स्वीकार किये जाने की सलाह देता है ताकि रोगी अथवा साधक उक्त विषय स्थिति के स्वरूप एवं कारणों की उलझन में पड़े बगैर जो कुछ उसके इर्द गिर्द घटित हो रहा है, उसको अनुभव के द्वारा स्वीकार करते हुये उसके गूढ़ार्थ को सक्रिय कल्पना (Active Imagination) के माध्यम से समझने का प्रयत्न कर सके। सक्रिय कल्पना की मदद लेने से साधक की चेतन स्तरीय परेशानी थोड़े समय के लिये बढ़ सकती है किन्तु बाद में जाकर साधक को यह स्वतः अनुभव होने लगता है कि वह अब तक केवल काल्पनिक परेशानियों का शिकार रहा है जिसका कोई वास्तविक आधार ही नहीं है और इस सम्यक् ज्ञान से निःसंदेह साधक अपनी समस्याओं की काल्पनिक परेशानियों से मुक्त हो सकता है।

सक्रिय कल्पना (Active Imagination) को जाग्रत करने में प्रायः कला चित्र स्थापना साहित्य इत्यादि भिन्न भिन्न विधाओं का उपयोग किया जाता है। सक्रिय कल्पना तथा मौलिक कला-कृतियों के निर्माण में निःसन्देह अवचेतन स्तरीय सामग्री का उपयोग होता है फिर भी सक्रिय कल्पना-प्रयास तथा कला-कृतियों की सहज अभिव्यक्ति में विशेष अन्तर है। साधक सक्रिय कल्पना के माध्यम से अवचेतन स्तरीय उभरती हुयी भावनाओं को सप्रयास अपने विवेक के प्रकाश में समझने का प्रयत्न करता है, अतः उसके चेतन तथा अवचेतन स्तरों का अन्तर कम हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप उसको अवचेतन स्तरीय अंधकार पूर्ण तनाव से छुटकारा मिल जाता

---

1 युंग की मान्यतानुसार स्वप्न तथा स्वैर कल्पना (Phantasic) के विश्लेषण अथवा समझने की अपेक्षा उसका अनुभव किया जाना अधिक महत्वपूर्ण माना गया है।

– Jung : Two Essays on Anatyticl Psychology

है, और वह गहन अवचेतन स्तरीय सामग्री को चेतन स्तर पर समझनें का प्रयास करता है, तथा इसके अर्थ तक पहुँचने का प्रयास करता है, किन्तु कलाकार रचानात्मक कलाकृतियों के आविर्भाव एवं निर्माण के दौरान अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु की सहज अभिव्यक्ति के अर्थ के टूटने की झंझटों में ग्रस्त नहीं होता क्योंकि कलाकार के अवचेतन स्तरीय अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति सहज रूप से मौलिक कलाकृतियों में स्वतः हो जाती है।

यहाँ पर पुनः अंधकार पूर्ण स्थिति के निर्माण के बाबत भारतीय एवं युंगीय पद्धतियों के बीच पाये जाने वाले अन्तर को भी सुस्पष्ट किया जाना आवश्यक है। भारतीय गुरु साधक के कल्याणार्थ उसके कर्म-बन्धनों को तोड़ने की दृष्टि से साधक के अहम् पर परोक्ष रूप से प्रहार करते हुए ऐसी भीषण एवं पीड़ा जनक परिस्थिति का निर्माण कर देता है जिसके परिणाम स्वरूप साधक के संचित क्लेश कर्मों की यकायक एक बाढ़ उभर पड़ती है और इस प्रकार की परिस्थितियों में साधक कभी कभी गुरु को अत्यन्त क्रूर समझने लगता है, क्योंकि गुरु अपनी वाणी और व्यवहार से साधक के समूचे व्यक्तित्व को व्यथित कर देता है, तथा शब्द रूपी चिमटों से साधक के शरीर को दग्ध करता है। भारतीय गुरु एक ओर साधक को उसके अहम्भाव पर चोट पहुँचाते हुये संसार की वस्तुओं की निस्सारता का बोध कराते हुये उसको बाह्य मुखी प्रवृत्तियों से पृथक रहने का परामर्श देता है तथा दूसरी ओर उसके आन्तरिक क्लेशों को बाहर की ओर प्रवाहित होने की परिस्थितियों का निर्माण करता है, एवं साधक के गहनतम अवचेतन स्तर से उभरते हुये अनुभवों, प्रतीकों एवं आकृतियों की ओर उसका ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न करता है और संत गाथा, संत-अनुभवों के दृष्टान्तों के आधार पर अपने अनुभव ज्ञान से साधक को परिपुष्ट कर के परस्पर विरोधी वृत्तियों के बीच समन्वयकारी तत्वों की खोज में प्रवृत्त रहने का आग्रह करता है ताकि साधक असीम शान्ति तथा आनन्द का अनुभव कर सके। अंधकारमय इस असहायावस्था (शून्यावस्था) के स्तर पर पहुँचने के बाद साधक जब गुरु के मार्ग-दर्शन से समन्वयकारी तत्वों की खोज में प्रवृत्त हो जाता है तब स्वतः उसे सर्वत्र आत्मा की व्यापकता का दिव्य अनुभव होने लगता है, जिसके परिणाम स्वरूप उसके सभी तनावों, परेशानियों, समस्याओं एवं दुखों का अन्त हो जाता है और उसको सर्वत्र आत्मा की व्याप्ति की सहज अनुभूति हो जाती है जो कि निःसन्देह असीम शान्ति एवं दिव्य आनन्द का अनुभव है। भारतीय चिन्तन परम्परा में इसको 'आत्म-साक्षात्कार की स्थिति' कहा गया है।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार युंगीय पद्धति के दौरान व्यक्ति द्वारा अंधकार-ग्रस्त 'रात्रि समुद्रयात्रा' अर्थात 'शून्यावस्था' का किसी आध्यात्मवादी एवं रहस्यवादी भूमिका के अभाव में एक खतरनाक स्थिति उपस्थित कर सकता है, जिसके परिणाण स्वरूप साधक मनोविक्षिप्त अथवा पागल हो सकता है। अतः युंगीय पद्धति के दौरान विश्लेषण द्वारा सावधानी पूर्ण मार्ग-दर्शन के अभाव अथवा भूल हो जाने पर साधक रोगी के अस्वस्थ अथवा उन्मादग्रस्त हो जाने की निरन्तर आशंका खड़ी हो सकती है, क्योंकि साधक रोगी द्वारा युंगीय पद्धति में इस गहन अंधकारमय स्थिति में कहीं पर भी उसे प्रकाश अथवा दैविक सहयोग प्राप्त किये जाने की कोई संभावना नहीं दीखती है, इसलिये रोगी अंधकारपूर्ण स्थिति में पूर्णतया निराशा तथा असहायता का अनुभव करते हुये कभी कभी पागल हो सकता है। भारतीय गुरु संत मार्ग में इस प्रकार की कोई आशंका नहीं है, क्योंकि साधना के आरम्भ से अन्त तक की स्थितियों में साधक को निरंन्र कृपालु एवं प्रेममय गुरु का स्नेह सानिध्य तथा योग्य मार्ग-दर्शन प्राप्त होता रहता है। युंगीय साधक को प्रायः घनीभूत अंधकार से अभिभूत हो जाना पड़ता है और उसके लिये प्रकाश अथवा आनन्द प्रोप्त करने का कोई संकेत ही नहीं है जबकि भारतीय गुरुमार्ग में गुरु को प्रकाश एवं आनन्द का भण्डार कहा गया है। किन्तु अध्यात्मशून्य आधुनिक पाश्चात्य मानव को अंधकार तथा निराशा से उबारने के लिये अब तक किसी प्रकार का कोई भी मार्ग निर्धारित नहीं किया गया है। पाश्चात्य मानव की निराशाजन्य स्थिति का यह भी एक कारण है कि युंगीय पद्धति में भी व्यक्ति को अपने अहं को बनाये रखने का विधान है, जबकि भारतीय परम्परा में गुरु संत की स्नेहमयी छाया में साधक को अपने सम्पूर्ण अहम् को श्रीगुरु के चरणों में समर्पित किये जाने का विशेष आग्रह है। भारतीय परम्परा के अनुसार साधक द्वारा अपना सर्वस्व (अहम्) गुरु को समर्पण किया जाना ही साधक द्वारा गुरु को दी जाने वाली भेंट, दक्षिणा अथवा पारिश्रमिक है। भारतीय गुरु अपने साधक शिष्य से किसी प्रकार की सम्पदा (रत्नादि) भेंट की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु जब साधक अपना सर्वस्व (अहम्) गुरु के प्रति समर्पित कर देता है तब ही गुरु प्रगाढ़ निःस्वार्थ प्रेम के वशीभूत होकर शिष्य को अपने अमूल्य अनुभव के ज्ञान से आवश्कतानुसार मार्ग-दर्शन का वर प्रदान करते हैं, किन्तु पाश्चात्य परम्परा के अन्तर्गत साधक को अहमशून्य बनाये जाने की आवश्यकता को अबतक महसूस नहीं किया गया है क्योंकि पाश्चात्य जगत में अध्यात्म की अपेक्षा विज्ञान को अधिक महत्व दिया गया है।

भारतीय मान्यतानुसार जब तक साधक अपना अहम् श्री गुरु के चरणों में समर्पित

नहीं कर देता तब तक वह निःस्वार्थ कृपालु गुरु द्वारा 'आत्मबोध' प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु पाश्चात्य परम्परा के अन्तर्गत 'आत्मबोध' अथवा 'मुक्ति' को मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य की तरह स्वीकार किये जाने की कोई विवेचना नहीं की गई है क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति पर विज्ञान का अत्यधिक प्रभाव है और पाश्चात्य वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत अहम् चेतन (Ego consciousness) को ही अधिक महत्व दिया गया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत अहम् (Ego) को चेतना (Consciousness) का केन्द्र बिन्दु माना गया है, इसलिये युंग ने अवचेतन स्तर पर प्रकाश डाल कर इस प्रवाह को निःसन्देह जीवन के उत्तर काल में मोड़ कर अन्तर्मुखी किये जाने का आग्रह किया है। मानव जीवन में निःसन्देह विज्ञान का महत्व है, किन्तु पाश्चात्य परम्परा में विज्ञान को आवश्यकता से अधिक महत्व दिये जाने के परिणामस्वरूप पाश्चात्य देशीय जनता का जीवन अहम् से ग्रसित होकर बिखरता हुआ नज़र आ रहा है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अहम् तथा चेतन-जाग्रतावस्था को ही सब कुछ मान बैठने की भूल कर बैठा है, जबकि वस्तुतः जाग्रत अथवा चेतनावस्था भी उसी प्रकार की एक अवस्था है जैसे कि अवचेतनावस्था है, और चित्त को इन दोनों अवस्थाओं (चेतनावस्था तथा अवचेतनावस्था) का समान महत्व है। अतः समग्र व्यक्तित्व की सम्यक् जानकारी के लिये व्यक्ति को अपने अवचेतन स्तरीय अन्धकार के अनुभव को अवचेतन के माध्यम से ही समझने का प्रयत्न करना चाहिये। यही युंग की अमूल्य देन है। अवचेतन स्तरीय अन्धकार के अनुभव से ही व्यक्ति अपने अवचेतन स्तरीय स्वरूप की वास्तविकता का परिचय प्राप्त कर सकता है। उपरोक्त प्रकार के प्रयत्न के दौरान साधक को यदाकदा भूल अथवा त्रुटि का भी सामना करना पड़ेगा किन्तु इसी भूल से उसको अपने अवचेतन की आवाज सुनाई पड़ेगी जिसका अनुसरण करते हुये साधक अन्तर्मुखी होकर अपने ही अन्तरतम की स्थिति के साथ भारतीय परम्परा के अनुसार स्व-साक्षात्कार का अनुभव कर सकता है। इस विषय को निम्नांकित भारतीय दृष्टान्त कहानी से स्पष्ट किया जा सकता है :--यथा,

एक बार एक धनिक सेठ जी का एक मोटा ताजा कुत्ता उसके मालिक की आलीशान हवेली की रखवाली कर रहा था। सन्निकट ही वहाँ सड़क पर एक भूखा प्यासा, दुर्बल मरियल सा कुत्ता रास्ते से गुज़र रहा था। सेठ जी के कुत्ते का अहम् दुर्बल मरियल कुत्ते को देखकर फूल कर कुप्पा हो गया और मोटे ताजे कुत्ते ने अपना अहम् व्यक्त करने हेतु भौंकना शुरू किया। रास्ते चलते दुर्बल कुत्ते को इस पर अपमान सा लगा, क्योंकि वह दुबला, पतला तथा कमजोर था और अपने रास्ते पर चुपचाप चला जा रहा था, किन्तु सेठ के कुत्ते को गुर्राते देखकर सड़क का दुर्बल कुत्ता भी प्रत्युत्तर में भौंकने लगा, बस फिर क्या था। दोनों कुत्ते परस्पर भौंकने गुर्राने की

प्रतियोगिता में उलझ पड़े और दोनों निरन्तर तब तक परस्पर भौंकते रहे, जब तक कि दोनों अन्त में थक कर चुप न हो गये और इस प्रकार गहरी थकान के बाद ही इनके बीच भौंकने का व्यवहार बन्द हो सका। मानवीय बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के व्यवहार पर उपरोक्त सोदाहरण कहानी सटीक लागू होती है। व्यक्ति प्रायः बराबर बाह्य वस्तुओं और वृत्तियों में दिन रात उलझा रहता है, और इस प्रकार निरर्थक उलझे रहने पर वह यह भ्रान्त धारणा बनाये रखने की चेष्टा करता है कि वह व्यस्त है तथा उसका कार्य महत्वपूर्ण है यद्यपि वस्तुतः उसका कार्य केवल भोंकते रहने वाले कार्य की तरह निस्सार एवं सारहीन है। व्यक्ति को दिनरात बाहरी काम में उलझे रहने पर भी जब परिणाम के अन्त में कोई सार्थक लाभ, सार अथवा योग्य मूल्य नहीं मिलता तो ऐसी स्थिति में उसको बाह्य वस्तुओं की निस्सारता का अनुभव होता है इसलिये उसको सभी बाह्य कार्यों से छुट्टी ले लेनी चाहिये तथा अपनी सभी बहिर्मुखी वृत्तियों को बन्द अथवा समाप्त कर उसको अपने ही अन्दर अपने को झाँक कर अपनी अन्तरतम स्थिति को पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिये, अर्थात बाहर की तरफ निरर्थक देखाभाली के बजाय उसको अपने ही अन्तर को देखने का प्रयत्न करना चाहिये, जिसको अर्न्तमुखी प्रवृत्ति कहते हैं, तथा इस अर्न्तमुखी दृष्टि से व्यक्ति को अन्दरूनी हिस्से अर्थात अवचेतन स्तरीय अर्न्तवस्तु का दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिये, अर्थात जब व्यक्ति बाहर के बजाय स्वयं को अन्दर से देखने का इमानदारी के साथ प्रयत्न करता है तभी उसको उसके व्यक्तित्व की अक्षुण्णता एवं इकाई का अनुभव होगा. जिसको भारतीय चिन्तन में आत्मदर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार कहा गया है।

युंगीय मनोविज्ञान तथा भारतीय परम्परा में अवचेतन चित्त के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न दृष्टिकोण हैं। डा० युंग का यह कहना कि भारतीय परम्परा में अवचेतन की कोई परिभाषा नहीं की गयी है, यह सच नहीं है। भारतीय सांख्य दर्शन में प्रकृति को अवचेतन कहा गया है। सांख्य दर्शन में प्रकृति जड़ है, मूलतत्व (Prunia-materia) है तथा इसको स्वभाव से महामाता (प्रसवधर्मिणी) माना गया है[1]। किन्तु निःसन्देह सांख्य की प्रकृति को केवल विषय (object) तथा जड़ (unconscious) माना गया है और केवल पुरुष को ही विषयी (subject)

1. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा पुमान् ॥
—सांख्य कारिका (ईश्वरकृष्ण) कारिका सं० ११ ॥

द्रष्टा तथा चेतन कहा गया है[1] । भारतीय दर्शन में सभी दृश्याभास को जड़ तथा पुरुष को द्रष्टा चैतन्य माना गया है । प्रकृति दृष्टाभास दृश्य है अतः उसको जड़ तथा पुरुष जो दृश्य नहीं है इसलिये उसको द्रष्टा (Subject) तथा चैतन्य कहा गया है । सांख्य दर्शन में पुरुष तथा प्रकृति दोनों को परम सत्ता मानी गयी है, किन्तु सांख्य दर्शन का यह द्वैतवाद भारतीय चिन्तन के अन्तर्गत वेदान्त दर्शन में जाकर अद्वैतवाद बन गया है । जिसके अन्तर्गत केवल ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया गया है, तथा बाह्य दृश्यमान जगत को मिथ्या घोषित किया गया है । सांख्य दर्शन की द्वैतवादी दृष्टि से यद्यपि प्रकृति जड़ (अचेतन) है किन्तु इसको परिवर्तनशील, चंचल तथा आन्तरिक गतिशीलतायुक्त (Inner Dynamic) माना गया है तथा प्रकृति को ही सम्पूर्ण जगत की प्रसवधर्मिणी माता (जननी) कहा गया है । सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति जड़ है किन्तु उसको विश्वरूप में व्यक्त होने के लिये परम चैतन्य पुरुष के सानिध्य की आवश्यकता होना प्रतिपादित किया गया है, अर्थात चैतन्य पुरुष की उपस्थिति में ही जड़ प्रकृति अभिव्यक्त हो सकती है । सांख्य दर्शन में एक ओर प्रकृति को इन्द्रियों, मन, बुद्धि, तथा अंहकार की जननी माना गया है तथा दूसरी ओर सृष्टि की सभी वस्तुओं का ज्ञान इन्द्रियों, मन और बुद्धि से होना कहा गया है अतः सांख्य की प्रकृति को युंगीय अवचेतन के समानान्तर माना जा सकता है । इच्छा संस्कार तथा कर्मबन्धनों की हेतु प्रकृति ही है, प्रकृति ही कर्म तथा संसार का मायाजाल चैतन्य द्रष्टा पुरुष के इर्द गिर्द सहज भाव से बुनती रहती है किन्तु सनातन चैतन्य पुरुष प्रकृति के इस मोहजाल से स्वतंत्र तथा अप्रभावित रहता है । पातञ्जलि के योगसूत्र में युंगीय मनोविज्ञान के समान प्रकृति के अन्धकारपूर्ण अवचेतन के विषयात्मक अध्ययन (Objective study) में गहरी अभिरुचि प्रकट की गई है, तथा विवेकपूर्ण बुद्धि के महत्व को स्वीकार किया गया है । योग सूत्र पर श्री व्यास तथा श्री वाचस्पति मिश्र की टीकाओं में इस विषय के सम्बन्ध में गहराई तथा विस्तार के साथ विवेचन प्रस्तुत किया गया है[2] । आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इन टीकाओं का मूल्यांकन किया जाना इस पुस्तक का विषय बिन्दु नहीं है, अतः केवल उदाहरणार्थ उपरोक्त सूत्रों के हवाले से यह सूचना दिया जाना पर्याप्त है कि भारतीय दर्शन (योग-सत्र) में भी

---

1. तस्माच्च विपर्य्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
   कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावाश्च ॥
   —सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण) कारिका सं० १९
2. योग सूत्र 11, 12, 13 (काशी संस्कृत सीरीज पृष्ट 161-174)

अवचेतन चित्त का अध्ययन प्रस्तुत किया जा चुका है। अवचेतन स्तरीय क्रियाओं के आधार पर ही सम्पूर्ण कर्मवाद का सिद्धान्त तथा उसकी क्रियान्विति की व्याख्या की गई है। अवचेतन स्तरीय क्रियाओं के फलस्वरूप ही व्यक्ति को पाँच क्लेशों में ग्रस्त होकर जन्म तथा पुर्नजन्म की शृङ्खलाओं में निरन्तर उलझना पड़ता है, एवं कर्म तथा संस्कार ही व्यक्ति के बन्धन का कारण तथा परिणाम है, इसलिए भारतीय चिन्तन के अन्तर्गत व्यक्ति को कर्म और संस्कार के बन्धन से मुक्त होने के लिए आग्रह किया गया है। यदि क्रिया समयाधीन है तो उसके लिए आगे तथा पीछे क्रियाओं की शृंखलायें भी बनी रहेंगी, इसलिए कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए उसको समय से परे ऊपर-उठना पड़ेगा। क्लेशों की इस जन्मजन्मान्तर की अनन्त शृंखला का मूल कारण व्यक्ति का अज्ञान (Ignoranee) है कि वह अपने सही स्वरूप को भूल गया है, और स्वयं को भूल जाने के कारण वह क्लेशों के मायाजाल में फँस गया है। इसलिए वेदान्त के अद्वैतवाद के अन्तर्गत जब साधक को प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति-अवस्था) से जगा दिया जाता है तब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी नष्ट हो जाती है तथा आत्मवस्तु स्वयं स्वयंज्योति, प्रकाश स्वरूप हो जाती है, इस स्वरूप स्थिति (आत्म-स्थिति) में चाहे दृश्यावली (Objectivity) रहे अथवा नहीं रहे, इसका कोई अन्तर ही नहीं पड़ता क्योंकि आत्मज्ञानी की दृष्टि में जड़ और चेतन में तथा अवचेतन और चेतन अवस्था में कोई अन्तर नहीं है। यहाँ पर यह भी सुस्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी के लिए विषय (Object) का कोई महत्व नहीं है, चाहे उक्त विषय जागृत चेतन स्तर का हो अथवा अज्ञात अवचेतन स्तर का हो क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं ज्योति-पूर्ण आत्मवस्तु है, और सर्वत्र आत्मा की व्याप्ति का सतत् अनुभव किया जाना ही मुक्ति है, जिसमें सभी कर्म, संस्कार तथा जन्म, पुर्नजन्म आदि की सभी कल्पनाओं का विलय हो जाता है और केवल मात्र अजर, अमर, अनादि सनातन आत्मस्थिति ही रह जाती है, जिसका न कभी जन्म होता है, तथा न उनकी मृत्यु होती है, तथा इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन होने की कोई गुंजाइश नहीं है इसलिए आत्मा को शाश्वत, सनातन तथा सर्वव्यापी कहा गया है। बाह्य दृष्टि से आत्मा के स्वरूप की व्याख्या किए जाने में भेद पाया जा सकता है, किन्तु मूलतः आत्मा एक और अभेद है। जिसप्रकार सागर निरन्तर सागर ही रहता है, तथा पानी को पानी ही कहा जाता है किन्तु वस्तुतः सागर और पानी में कहीं तात्त्विक अन्तर नहीं है—चाहे सागर में असंख्य लहरें उठती हों अथवा सागर शान्त एवं गंभीर रहता हो। क्योंकि हिलोरे खाली लहरे अथवा शान्त समुद्र को यदि हाथ से पकड़े जाने की कोशिश की जावे तो उभय स्थितियों में केवल पानी ही हाथ लगेगा। आत्मा ही सम्पूर्ण इकाई है, चेतन है तथा प्रकाश है जिसका न कहीं आदि है न कहीं मध्य है, और न कहीं अन्त

है। जिस प्रकार सूर्य के लिए न कहीं रात है और न कहीं दिन (प्रातः दोपहर तथा संध्याकाल) है उसी तरह आत्मदृष्टि से न कहीं जन्म है, न कहीं मृत्यु है और न कहीं पुनर्जन्म है। आत्मदृष्टि से न कहीं बन्धन है और न कहीं मुक्ति है।

युंगीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत अवचेतन स्तर का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। युंगीय मनोविज्ञान का यह उद्देश्य रहा है कि व्यक्ति द्वारा अपनी प्रकृति के अनुसार अवचेतन स्तरीय क्रियाओं तथा अभिव्यक्तियों का वैज्ञानिक प्रकार से अध्ययन करते हुये अवचेतन की अर्न्तवस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय, इसलिए युंगीय विश्लेषण के अन्तर्गत रहस्यवादी अनुभवों की तरह किसी पारलौकिक बिन्दु की खोज किये जाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है, अपितु युंगीय पद्धति में द्वैतवादी दृष्टिकोण को भी छोड़ने की चेष्टा नहीं की गई है। युंगीय विश्लेषणात्मक पद्धति के अन्तर्गत मानवीय अनुभवों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूरी इमानदारी से अध्ययन किया जाता है, तथा व्यक्तित्व विकास के कतिपय स्तर निर्धारित किये जाते है, जिनके फलस्वरूप सभी अनुभवों के आधार (आत्मा) की एक झलक मिलती है जिसको युंगीय मनोविज्ञान में मूल प्रारूप आकृति (Archetypal figure) की संज्ञा से स्पष्ट किया गया है, किन्तु इस संज्ञा की यहाँ पर कोई तात्त्विक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की गई है, जो कि पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार उचितही है[1]। पाश्चात्य विचारधारा में सूक्ष्म विषयात्मक (firner obiectivity) मानसिक क्षेत्र से परे विचार किये जाने की न तो सक्षमता है और न इसकी कोई आवश्यकता ही अनुभव की जाती है, इसलिए युंगीय पद्धति केवल मनोवैज्ञानिक क्षेत्र तक ही मर्यादित है। भारतीय दृष्टिकोण से यदि विचार किया जाय तो कोई यह धारणा बना सकता है कि युंगीय मनोविज्ञान भारतीय आध्यात्मवाद के समानान्तर है, तथा युंगीय 'चित्त' को भारतीय ('आत्मा' का समानार्थी समझा जा सकता है। किन्तु उपरोक्त धारणा का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तुतः चित्तीय क्षेत्रसापेक्ष है, जब कि आध्यात्म अथवा आत्मा का क्षेत्र अनुभवातीत है[2]। भारतीय दृष्टि से दृश्याभास व्यावहारिक सत्य है जबकि आत्मवस्तु सबसे परे है, अतीत है, किन्तु आमवस्तु को परे तथा अतीत कहने

---

1 Jung : psychology and Alchemy पृष्ट 10—11

2 भारतीय संस्कृति प्राग-मनोवैज्ञानिक (Pre-psychological) है। अर्थात भारतीय चिन्तन में मनोविज्ञान की कोई व्याख्या नहीं की गई है। भारतीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक तत्वों का तत्वमीमांसीय विवेचन किया गया है। कट्टरतावादी केथेलीकों में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति पायी जाती है।
—E. T. H. Lecturess Alchemy II P. 41.

का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा का कोई भिन्न तत्व है। आत्मा ही सब कुछ है— उसमें भिन्न कुछ है ही नहीं। क्योंकि "नेह नानास्ति किंचन" सूत्र सही है। अद्वैत में द्वैत का कोई स्थान ही नहीं है। आत्मा वह दृष्टि है जिसमें सभी दृष्टियों का समावेश हो जाता है। आत्मा में ज्ञाता और ज्ञान का लोप है अर्थात आत्मा सम्पूर्ण इकाई है आत्मा में विषयी (Subject) तथा विषय (Object) का भेद भी नष्ट हो जाता है। अतः आत्मा को भेदातीत अथवा अभेद माना गया है।

आत्मा को हमारे अस्तित्व का आधार स्वीकार किया जाना सम्भव है। ऐसा समझ लेना एक बात है किन्तु इसका प्रत्यक्षीकरण किया जाना अथवा इनको अनुभव-गम्य किया जाना निःसन्देह कुछ और बात है। प्रत्यक्षीकरण अथवा अनुभवगम्यता के दौरान 'इदम्' और 'मम्' अर्थात् आत्मा तथा अहम् दोनों एक अथवा अभेद हो जाते हैं। भारतीय चिन्तन के अन्तर्गत आत्मज्ञान (Self-Recognition) तथा आत्मानुभव (Self-Realesation) के अन्तर को सुस्पष्ट किया गया है। डॉक्टर युंग के कथन में काफी वजन है कि आत्मा ही हमारे अस्तित्व का उदगमस्थल तथा आधार है किन्तु इसे प्रकार की धारणा बनाने वाला अहम् है [1]। निःसन्देह वैज्ञानिक युंग के दृश्याभास से ऊपर उठकर किसी प्रकार की घोषणा करने से कतराते हैं क्योंकि वह दृश्यजगतीय दृष्टिकोण (Phenomenological Standpoint) को छोड़ना ही नहीं चाहते अतः उपरोक्त दृष्टिकोण के कारण युंग के लिये पूर्ण चैतन्य (Pure consciousness) को समझना तथा उसकी व्याख्या प्रस्तुत करना संभव ही नहीं है।[2] जब कभी युंग के समक्ष इस विषय पर विवेचना करने का प्रसंग आया तब युंग ने विशुद्ध पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए भारतीय तत्व-मीमांसकीय व्याख्या के प्रति अपना विरोध प्रगट किया है। युंग ने पूरी इमानदारी के साथ यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उसके लिये वस्तुविहीन विषयी (Object-less Subjict) के प्रत्यय (Conceps) को समझने की योग्यता नहीं है [3]।

1. युंग : Two Essays on Analytical Psychologo, पृष्ठ २३८
2. अहम्शून्य मानसिक स्थिति हमारे लिये अवचेतनवस्था है, क्योंकि इसका कोई द्रष्टा ही नहीं है।
   Jung : The Tibeton Book of Greac Lberaton. Psyeholoncal Commentay—पृष्ठ ३९
3. जीवन के अन्तकाल में ऐसा कहा जाता है कि युंग ने Zeno chan Teaching by charles Lubre पढ़ कर उपरोक्त अनुभव किया। यह तथ्य डॉक्टर मेरी लुई फोन फ्रान्ज के एक पत्र से स्पष्ट होता है।

अर्थात् युंग उस चिद् वस्तु की समझ से इन्कार करते हैं जहाँ पर दृश्य कुछ भी नहीं हो। फिर भी जहाँ तक आत्मानुभूति के विषय का सम्बन्ध है, उसकी बाबत पूर्व तथा पश्चिम का भेद किया जाना ही असंगत है, यद्यपि इनकी पद्धतियों अथवा प्रणालियों में अन्तर पाया जा सकता है। योगी ऋषि अथवा नबी को किसी जाति, राष्ट्र अथवा काल से मर्यादित नहीं किया जा सकता, उनको सम्पूर्ण विश्व की धरोहर माना जाना चाहिये। इनका एक निराला ही मानव समाज है जिसका जाति, धर्म, संप्रदाय तथा राष्ट्रीयता के मानदण्ड से मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से भी युंगीय अनुसन्धानों का बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। युंग के विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के माध्यम से पश्चिम में चिन्तन क्षेत्र का एक नवीन साधना-मार्ग खुल गया है, जिस पर अग्रसर होकर व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास करते हुये अपनी सही पहिचान के लक्ष्य तक पहुँच सकता है। युंगीय पद्धति में यह भी संकेत पाया जा सकता है कि साधना पथ पर अग्रसर होने वाले साधक को अपने अहम् के त्याग से ही स्व-साक्षात्कार के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति होना संभव है, जैसा कि भारतीय चिन्तनपद्धति के अन्तर्गत आत्म साक्षात्कार की ध्येय प्राप्ति के लिये साधक अपने सम्पूर्ण अहम् को श्री गुरु चरणों में समर्पित कर देता है। भारतीय चिन्तन के अनुसार शब्द गुरु (गु—अन्धकार + रु=प्रकाश-दाता) का अर्थ" प्रकाश देने वाला" कहा गया है। गुरु प्रत्येक मानव के हृदय में प्रकाश रूप से विराजमान है जो सगुण तथा निर्गुण दोनों रूप में है। गुरु का अर्थ वैयक्तिक होने के बजाय अवैधानिक समझा जाना चाहिये। गुरु के द्वारा ज्ञान का प्रकाश आलोकित होता है जिसके फलरूप साधक शिष्य को असीम शान्ति, प्रेम तथा दिव्य आनन्द की अनुभूति गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण से प्राप्त होती है, जिसको स्व-साक्षात्कार किया जाना माना गया है। स्व-साक्षात्कार ही व्यक्तित्व विकास अथवा व्यक्तीकरण प्रक्रम की सहज चरम परिणिति है।

आशीर्वचन : भारतीय तंत्र का सूक्ष्म परिचय

'विश्वेश्वरी विश्वमनन्तशक्त्या,
प्राणग्निरुपाचित विश्वव्यापिनी ।
अगोचराचान्नादि मध्या,
अन्तर्बहिर्पूरितनादरूपिणी ।।

भगवती महात्रिपुरा के ध्यान में है—

"कादि हादि अनुरुपिणी शिवा,"

इस का कारण है, विविध प्रकार की अपनी ही भावनाएँ। वस्तुत: तथ्य पर जब तक आगम का विशेषज्ञ नहीं होगा तब तक उसको लिखने में कल्पना को ही आश्रय लेना होगा।

"वृहद् वड्वानल तन्त्र" भगवती त्रिपुरा के लिए है और "महाकाल संहिता" भगवती काली के लिए है। दोनों ही ग्रन्थ विशेषरूप से परिचयात्मक और रहस्यमयता के बोधक हैं।

"कादि" में पश्चिम आम्नाय, उत्तर आम्नाय, पूर्व आम्नाय, कुब्जिका, गुह्यकाली, और भुवनेश्वरी मिलकर 'कादि' विद्या बनी है। तीनों के मिश्रण से 'कादि कुट' एवं स्वरूप बना है।

"हादि" में दक्षिण आम्नाय, अधर आम्नाय, उर्ध्व आम्नाय' दक्षिणकाली, महोग्रतारा, और वालात्रिपुरसुन्दरी मिलकर 'हादि' विद्या बनी है।

'सादि' विद्या दोनों के मिश्रण से बनती है। चक्रों के निर्माण में मूलाधार-अधर आम्नाय, स्वाधिष्ठान-पूर्व आम्नाय, मणिपुर-दक्षिण आम्नाय, अनाहत-पश्चिम आम्नाय, विशुद्ध-उत्तर आम्नाय, आज्ञा चक्र-उर्ध्व आम्नाय का संकेत मिलता है। इसी प्रकार विशुद्ध और अनाहत चक्र मिलकर-वायव्य, अनाहत और मणिपुर मिलकर-नैऋत्य,

मणिपुर और स्वाधिष्ठान मिलकर-आग्नेय, स्वाधिष्ठान और विशुद्ध मिलकर-ईशान कोण बनाते हैं। इन चारों कोणें को मिलाकर 'सादि' 'कुट' बना। यह संक्षिप्त में इसका एक परिचय है जो प्रायः उपलब्ध नहीं होता है।

त्रिपुरा रहस्य के दो खण्ड उपलब्ध होते हैं—

(1) ज्ञान खण्ड

(2) माहात्म्य खण्ड

इसका तीसरा खण्ड 'चर्या खण्ड' है जिसका हमारे देश में अभाव है। ऐसा अनुमान है कि श्री चक्रार्णव, महाकाल संहिता का सुन्दरी खण्ड, वृहद्वड्वानल तन्त्र श्रीविद्यार्णव आदि ग्रन्थों में चर्याखण्डों को लेकर ही पूजा पद्धति लिखी गई है।

भगवती ललिता के 'श्रीयन्त्र' में त्रिवृत्तषोड्शदल, अष्टदल और चतुर्दशार के ऊपर है। महात्रिपुरा सुन्दरी के 'श्रीयन्त्र' में त्रिवृत्तभूपूसर के बाद तीनों वृत्त अलग अलग हैं। इस मूल भेद पर कोई साधक ध्यान नहीं देता है। इस पर साधकों को विशेष रूप से मनन करना चाहिये।

भगवती त्रिपुरा के सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं कह सकता है। यहाँ तक कि भगवान शिव स्वयं कहते हैं—"आशक्तोहं गुणान्वक्तुम्।"

ब्रह्माण्ड पुराण में "ललितोपाख्यान" का वर्णन है। उसमें ललिता त्रिशती और ललिता सहस्रनाम का अभाव है लेकिन 'ब्रह्माण्ड उत्तर पुराण' में ललितोपाख्यान में ललिता त्रिशती और ललिता सहस्रनाम दिया है।

हमारे यहाँ भगवती महात्रिपुर सुन्दरी, भगवती ललिता, श्रीविद्या, त्रिकुटेश्वरी, त्रिविद्या, राजराजेश्वरी, इन सब को एक मानते हैं जबकि ये सभी अलग-अलग हैं। महात्रिपुर सुन्दरी भी अलग है। ये सब अलग-अलग विधाएँ हैं। महात्रिपुर सुन्दरी की प्रधान नित्या भगवती ललिता है। भगवती त्रिपुरा की 16 नित्याएँ और भगवती काली की 15 नित्याएँ निम्न प्रकार हैं:—

महात्रिपुर सुन्दरी की नित्याएँ

(1) राजेश्वरी (2) भगमालिनी

(3) नित्याक्लिन्ना (4) भेरण्डा

(5) वह्निवासिनी (6) बज्रेश्वरी

(7) शिवदूती (8) त्वरिता

(9) कुल सुन्दरी
(10) विमला नित्या
(11) नील पताका
(12) विजया
(13) सर्वमंगला
(14) ज्वाला मालिनी
(15) चित्रा
(16) महात्रिपुर सुन्दरी

भगवती काली की नित्याएँ

(1) काली
(2) कपालिनी
(3) कुल्ला
(4) कुरु कुल्ला
(5) विरोधिनी
(6) विप्रचित्ता
(7) उग्रा
(8) उग्र प्रभा
(9) दीप्ता
(10) नीला
(11) घना
(12) बलाका
(13) मात्रा
(14) मुद्रा
(15) सीता

अधिक विचार पूर्वक देखने से और "तन्त्रराज' के चक्रोपकरण को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है। यह त्रिपुरा परिचय केवल साधकों की जानकारी के लिए दिया गया है।

श्री उपाध्याय जी ने त्रिपुरा रहस्य की टीका लिखकर हिन्दी भाषा-भाषी साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी कार्य किया है। इससे सामान्य साधक भी अच्छा लाभ उठा सकेंगे। सामान्य साधकों के परिचय के लिए यह एक उत्तम ग्रन्थ है।

—स्वामी विद्यारण्यजी
(श्रीमान् स्वामी मुर्खानन्दजी महाराज)

आशीर्वचन

भारतीय साहित्य का सूक्ष्म परिचय

(स्वामी श्री विद्यारण्यजी महाराज)

विश्वेश्वरी विश्वमनन्तशक्त्या,
प्राणाग्निरूपार्चितविश्वव्यापिनी ।
अगोचरा चान्तादि-मध्या,
अन्तर्वह्निपूरित-नादरूपिणी ॥

भगवती महात्रिपुरा के ध्यान में है :—

"कादि-हादि-मनुरूपिणी शिवा"

इसका कारण है, विविध प्रकार की अपनी ही भावनाएँ। वस्तुतः तथ्य पर जब तक आगम का विशेषज्ञ नहीं होगा तब तक उसको सीखने में कल्पना का ही आश्रय लेना होगा।

"बृहद् वड्वानल तन्त्र" भगवती त्रिपुरा के लिए है और "महाकाल संहिता" भगवती काली के लिए है। दोनों ही ग्रन्थ विशेषरूप से परिचयात्मक और रहस्यमयता के बोधक हैं।

"कादि" में पश्चिम आम्नाय, उत्तर आम्नाय, पूर्व आम्नाय, कुब्जिका, गुह्यकाली और भुवनेश्वरी मिलकर 'कादि' विद्या बनी है। तीनों के मिश्रण से 'कादि कूट' एवं स्वरूप बना है।

"हादि" में दक्षिण आम्नाय, अधर आम्नाय, ऊर्ध्व आम्नाय, दक्षिणकाली, महोग्रतारा, और बाला त्रिपुरसुन्दरी मिलकर 'हादि' विद्या बनी है।

"स्कादि" विद्या दोनों के मिश्रण से बनती है । चक्रों के निर्माण में मूलाधार-अधर आम्नाय, स्वाधिष्ठान–पूर्व आम्नाय, मणिपूर-दक्षिण आम्नाय, अनाहत–पश्चिम आम्नाय, विशुद्ध–उत्तर आम्नाय, आज्ञाचक्र-ऊर्ध्व आम्नाय का संकेत मिलता है। इसी प्रकार विशुद्ध और अनाहत चक्रक मिलकर-वायव्य, अनाहत और मणिपूर मिलकर–नैऋत्य, मणिपूर और स्वाधिष्ठान मिलकर–आग्नेय, स्वाधिष्ठान और विशुद्ध मिलकर–ईशान कोण बनाते हैं । इन चारों कोणों को मिलाकर 'सादि' कूट बना । यह संक्षिप्त में इसका एक परिचय है जो प्रायः उपलब्ध नहीं होता है ।

त्रिपुरारहस्य के दो खण्ड उपलब्ध होते हैं :—

(1) ज्ञान खण्ड

(2) महात्म्य खण्ड

इसका तीसरा खण्ड 'चर्या खण्ड' है जिसका हमारे देश मैं अभाव है । ऐसा अनुमान है कि श्री चक्रार्णव, महाकालसंहिता का सुन्दरी खण्ड, वृहद्वडवानल तन्त्र श्रीविद्यार्णव आदि ग्रन्थों में चर्याखण्डों को लेकर ही पूजापद्धति लिखी गई है ।

भगवती ललिता के 'श्रीयन्त्र' में त्रिवृत्त-षोडशदल, अष्टदल और चतुर्दशार के ऊपर है । महात्रिपुरा सुन्दरी के 'श्रीयन्त्र' में त्रिवृत्त–भूपूर के बाद तीनों वृत्त अलग अलग हैं । इस मूल भेद पर कोई साधक ध्यान नहीं देता है । इस पर साधकों को विशेष रूप से मनन करना चाहिये ।

भगवती त्रिपुरा के सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं कह सकता है । यहाँ तक कि भगवान शिव स्वयं कहते हैं–"अशक्तोऽहं गुणान् वक्तुम् ।"

ब्रह्माण्ड पुराण में "ललितोपाख्यान" का वर्णन है । उसमें ललिता त्रिशती और ललिता सहस्रनाम का अभाव है लेकिन 'ब्रह्माण्ड उत्तर पुराण' के ललितोपाख्यान में ललिता त्रिशती और ललिता सहस्रनाम दिया है ।

हमारे यहाँ भगवती महात्रिपुरसुन्दरी, भगवती ललिता, श्रीविद्या, त्रिकूटेश्वरी, त्रिविद्या, राजराजेश्वरी, इन सब को एक मानते हैं जब कि ये सभी अलग अलग हैं । महात्रिपुर सुन्दरी भी अलग हैं । ये सब अलग अलग विद्याएँ हैं । महात्रिपुर सुन्दरी

की प्रधान नित्या भगवती ललिता है। भगवती त्रिपुरा की 16 नित्याएँ और भगवती काली की 15 नित्याएँ निम्न प्रकार हैं :—

महात्रिपुर सुन्दरी की नित्याए

(1) कामेश्वरी
(2) भगमालिनी
(3) नित्या क्लिन्ना
(4) भेरण्डा
(5) वह्निवासिनी
(6) वज्रेश्वरी
(7) शिवदूतो
(8) त्वरिता
(9) कुलसुन्दरी
(10) विमला नित्या
(11) नील पताका
(12) विजया
(13) सर्वमंगला
(14) ज्वाला मालिनी
(15) चित्रा
(16) महात्रिपुर सुन्दरी

भगवती काली की नित्याएँ

(1) काली
(2) कपालिनी
(3) कुल्ला
(4) कुरुकुल्ला
(5) विरोधिनी
(6) विप्रचित्ता
(7) उग्रा
(8) उग्रप्रभा
(9) दीप्ता
(10) नीला
(11) घना
(12) बलाका
(13) मात्रा
(14) मुद्रा
(15) सीता

अधिक विचारपूर्वक देखने से और "तन्त्रराज" के चक्रोपकरण को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है। यह त्रिपुरा परिचय केवल साधकों की जानकारी के लिए दिया गया है।

श्री उपाध्याय जी ने त्रिपुरा रहस्य की टीका लिखकर हिन्दी भाषा-भाषी साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी कार्य किया है। इससे सामान्य साधक भी अच्छा लाभ उठा सकेंगे। सामान्य साधकों के लिए यह एक उत्तम ग्रंथ है।

सम्मति पत्र

A. U. VASAVADA
1605 E 50 th Street ≠ 13 D.
CHICAGO (Illinois) U. S. A. 60615
Feb. 13, 1978

प्यारे भाई,

अनुवाद बहुत सुन्दर है। मैंने कुछ संशोधन किये है, जो देख लेना।

—अरविंद